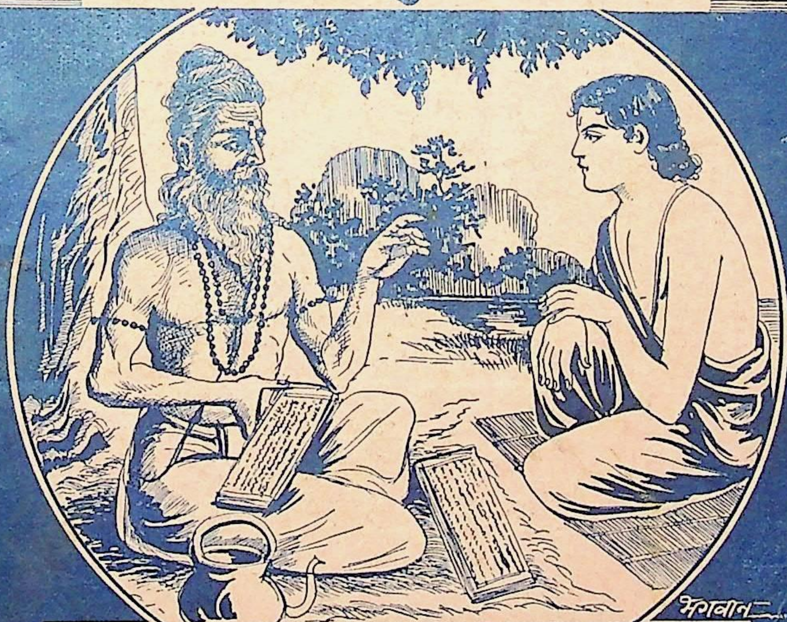
श्रीआद्यशंकराचार्यविरचित

विवेक-चूडामणि

हिन्दी-अनुवादसहित



अनुवादक — मुनिलाल

श्रीआद्यशंकराचार्यविरचित

विवेक-चूडामणि

हिन्दी-अनुवादसहित



अनुवादक — मुनिलाल

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं०	१९८८	से	२००८ तक	३९,२५०
सं०	२०१०	नवाँ	संस्करण	१०,०००
सं०	२०१३	दसवाँ	संस्करण	५,०००
			कुल	५४,२५०

मूल्य ।-) पाँच आना

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

निवेदन

भगवान् श्रीशंकराचार्यके ग्रन्थोंमें 'विवेक-चूडामणि' एक प्रधान ग्रन्थ है। यह मुमुक्षु पुरुषोंके लिये बड़ा ही उपयोगी है। हिन्दीमें इसके कई अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु उनके दाम अधिक हैं। सस्ते मूल्यमें प्रेमी पाठकोंको यह ग्रन्थ मिल जाय, प्रधानतः इसी उद्देश्यसे गीताप्रेससे यह प्रकाशित किया गया है। श्रीशंकराचार्यके उपनिषद्-भाष्य, भगवद्गीता-भाष्य, श्रीविष्णुसहस्रनामके भाष्यका अनुवाद एवं कुछ और भी अनुवाद छपे हैं।

विनीत

प्रकाशक



ॐ

पत्र-पुष्प



जिन सन्तत सद्ज्ञान-सुधा-सुरसरी बहाई।
लेकर तर्क-त्रिशूल वाद-मर्याद मिटाई॥
शम-दम-व्याल कराल भाल ज्ञ-कला छिटकाई।
वर-वैराग्य-विभूति-भूति-भूषण सुखदाई॥
जो सद्घन सुखघन शान्तिघन बोध-व्योम अविकार हैं॥
उन शंकर-मौलि-मणीन्द्रपर ये पत्र-पुष्प निःसार हैं॥

अनुवादक



श्रीहरिः

विषय-सूची



श्रीहरिः

विवेक-चूडामणि

नन्दितानि दिगन्तानि यस्यानन्दाम्बुबिन्दुना ।
पूर्णानन्दं प्रभुं वन्दे स्वानन्दैकस्वरूपिणम् ॥

मंगलाचरण

सर्ववेदान्तसिद्धान्तगोचरं तमगोचरम् ।
गोविन्दं परमानन्दं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥

जो अज्ञेय होकर भी सम्पूर्ण वेदान्तके सिद्धान्त-वाक्योंसे जाने जाते हैं, उन परमानन्दस्वरूप सद्गुरुदेव श्रीगोविन्दको मैं प्रणाम करता हूँ ।

ब्रह्मनिष्ठाका महत्त्व

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम् ।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति-
र्मुक्तिर्नो शतकोटिजन्मसु कृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते ॥ २ ॥

जीवोंको प्रथम तो नरजन्म ही दुर्लभ है, उससे भी पुरुषत्व और उससे भी ब्राह्मणत्वका मिलना कठिन है; ब्राह्मण होनेसे भी वैदिक धर्मका अनुगामी होना और उससे भी विद्वत्ताका होना कठिन है। [यह सब कुछ होनेपर भी] आत्मा और अनात्माका विवेक, सम्यक् अनुभव, ब्रह्मात्मभावसे स्थिति और मुक्ति—ये तो करोड़ों जन्मोंमें किये हुए शुभ कर्मोंके परिपाकके बिना प्राप्त हो ही नहीं सकते ।

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥ ३ ॥

भगवत्कृपा ही जिनकी प्राप्तिका कारण है वे मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व (मुक्त होनेकी इच्छा) और महान् पुरुषोंका सङ्ग—ये तीनों ही दुर्लभ हैं ।

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् ।
यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥ ४ ॥

किसी प्रकार इस दुर्लभ मनुष्य-जन्मको पाकर और उसमें भी, जिसमें श्रुतिके सिद्धान्तका ज्ञान होता है ऐसा पुरुषत्व पाकर जो मूढबुद्धि अपने आत्माकी मुक्तिके लिये प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही आत्मघाती है; वह असत्‌में आस्था रखनेके कारण अपनेको नष्ट करता है।

इतः को न्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम्॥ ५॥

दुर्लभ मनुष्य-देह और उसमें भी पुरुषत्वको पाकर जो स्वार्थ-साधनमें प्रमाद करता है, उससे अधिक मूढ़ और कौन होगा?

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्
कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः।
आत्मैक्यबोधेन विना विमुक्ति-
र्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि॥ ६॥

भले ही कोई शास्त्रोंकी व्याख्या करें, देवताओंका यजन करें, नाना शुभ कर्म करें अथवा देवताओंको भजें, तथापि जबतक ब्रह्म और आत्माकी एकताका बोध नहीं होता तबतक सौ ब्रह्माओंके बीत जानेपर भी मुक्ति नहीं हो सकती।

अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेनेत्येव हि श्रुतिः।
ब्रवीति कर्मणो मुक्तेरहेतुत्वं स्फुटं यतः॥ ७॥

क्योंकि 'धनसे अमृतत्वकी आशा नहीं है' यह श्रुति 'मुक्तिका हेतु कर्म नहीं है,' यह बात स्पष्ट बतलाती है।

ज्ञानोपलब्धिका उपाय

अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान्
संन्यस्तबाह्यार्थसुखस्पृहः सन् ।
सन्तं महान्तं समुपेत्य देशिकं
तेनोपदिष्टार्थसमाहितात्मा ॥ ८ ॥

इसलिये विद्वान् सम्पूर्ण बाह्य भोगोंकी इच्छा त्याग कर सन्तशिरोमणि गुरुदेवकी शरण जाकर उनके उपदेश किये हुए विषयमें समाहित होकर मुक्तिके लिये प्रयत्न करे ।

उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया ॥ ९ ॥

और निरन्तर सत्य वस्तु आत्माके दर्शनमें स्थित रहता हुआ योगारूढ होकर संसार-समुद्रमें डूबे हुए अपने आत्माका आप ही उद्धार करे ।

संन्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्धविमुक्तये ।
यत्यतां पण्डितैर्धीरैरात्माभ्यास उपस्थितैः ॥१०॥

आत्माभ्यासमें तत्पर हुए धीर विद्वानोंको सम्पूर्ण कर्मोंको त्याग कर भव-बन्धनकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये ।

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः ॥११॥

कर्म चित्तकी शुद्धिके लिये ही है, वस्तूपलब्धि (तत्त्वदृष्टि) के लिये नहीं । वस्तु-सिद्धि तो विचारसे ही होती है, करोड़ों कर्मोंसे कुछ भी नहीं हो सकता ।

सम्यग्विचारतः सिद्धा रज्जुतत्त्वावधारणा ।
भ्रान्त्योदितमहासर्पभयदुःखविनाशिनी ॥१२॥

भलीभाँति विचारसे सिद्ध हुआ रज्जुतत्त्वका निश्चय भ्रमसे उत्पन्न हुए महान् सर्पभयरूपी दुःखको नष्ट करनेवाला होता है ।

अर्थस्य निश्चयो दृष्टो विचारेण हितोक्तितः ।
न स्नानेन न दानेन प्राणायामशतेन वा ॥१३॥

कल्याणप्रद उक्तियोंद्वारा विचार करनेसे ही वस्तुका निश्चय होता देखा जाता है; स्नान, दान अथवा सैकड़ों प्राणायामोंसे नहीं ।

अधिकारिनिरूपण

अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिर्विशेषतः ।
उपाया देशकालाद्याः सन्त्यस्मिन्सहकारिणः ॥१४॥

विशेषतः अधिकारीको ही फल-सिद्धि होती है; देश, काल आदि उपाय भी उसमें सहायक अवश्य होते हैं ।

अतो विचारः कर्तव्यो जिज्ञासोरात्मवस्तुनः ।
समासाद्य दयासिन्धुं गुरुं ब्रह्मविदुत्तमम् ॥१५॥

अतः ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ दयासागर गुरुदेवकी शरणमें जाकर जिज्ञासुको आत्म-तत्त्वका विचार करना चाहिये ।

मेधावी पुरुषो विद्वानूहापोहविचक्षणः ।
अधिकार्यात्मविद्यायामुक्तलक्षणलक्षितः ॥१६॥

जो बुद्धिमान् हो, विद्वान् हो और तर्क-वितर्कमें कुशल हो ऐसे लक्षणोंवाला पुरुष ही आत्मविद्याका अधिकारी होता है ।

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः ।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासायोग्यता मता ॥१७॥

जो सदसद्विवेकी, वैराग्यवान्, शम-दमादि षट्सम्पत्तियुक्त और मुमुक्षु हो उसीमें ब्रह्मजिज्ञासाकी योग्यता मानी गयी है ।

साधन-चतुष्टय

साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः ।
येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिद्ध्यति ॥१८॥

मनस्वियोंने जिज्ञासाके चार साधन बताये हैं, उनके होनेसे ही सत्यस्वरूप आत्मामें स्थिति हो सकती है, उनके बिना नहीं ।

आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते ।
इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम् ॥१९॥
शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ।

पहला साधन नित्यानित्य-वस्तु-विवेक गिना जाता है, दूसरा लौकिक एवं पारलौकिक सुख-भोगमें वैराग्य होना है, तीसरा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान—ये छः सम्पत्तियाँ हैं और चौथा मुमुक्षुता है ।

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः ॥२०॥
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः ।

'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, ऐसा जो निश्चय है वही नित्यानित्य-वस्तु-विवेक कहलाता है ।'

तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः ॥२१॥
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि ।

दर्शन और श्रवणादिके द्वारा देहसे लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोगपदार्थोंमें जो घृणाबुद्धि है वही 'वैराग्य' है ।

विरज्य विषयव्राताद्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः ॥२२॥
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते ।

बारंबार दोष-दृष्टि करनेसे विषय-समूहसे विरक्त होकर चित्तका अपने लक्ष्यमें स्थिर हो जाना ही 'शम' है ।

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके ॥२३॥
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः ।
बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा ॥२४॥

कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनोंको उनके विषयोंसे खींचकर अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर करना 'दम' कहलाता है । वृत्तिका बाह्य विषयोंका आश्रय न लेना यही उत्तम 'उपरति' है ।

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ॥२५॥

चिन्ता और शोकसे रहित होकर बिना कोई प्रतिकार किये सब प्रकारके कष्टोंका सहन करना 'तितिक्षा' कहलाती है ।

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम् ।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते ॥२६॥

शास्त्र और गुरुवाक्योंमें सत्यत्व बुद्धि करना—इसीको सज्जनोंने 'श्रद्धा' कहा है, जिससे कि वस्तुकी प्राप्ति होती है ।

सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा ।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम् ॥२७॥

अपनी बुद्धिको सब प्रकार शुद्ध ब्रह्ममें ही सदा स्थिर रखना इसीको 'समाधान' कहा है । चित्तकी इच्छापूर्तिका नाम समाधान नहीं है ।

अहङ्कारादिदेहान्तान्बन्धानज्ञानकल्पितान् ।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता ॥२८॥

अहंकारसे लेकर देहपर्यन्त जितने अज्ञान-कल्पित बन्धन हैं, उनको अपने स्वरूपके ज्ञानद्वारा त्यागनेकी इच्छा 'मुमुक्षुता' है ।

मन्दमध्यमरूपापि वैराग्येण शमादिना ।
प्रसादेन गुरोः सेयं प्रवृद्धा सूयते फलम् ॥२९॥

वह मुमुक्षुता मन्द और मध्यम भी हो तो भी वैराग्य तथा शमादि षट्सम्पत्ति और गुरुकृपासे बढ़कर फल उत्पन्न करती है ।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥३०॥

जिस पुरुषमें वैराग्य और मुमुक्षुत्व तीव्र होते हैं, उसीमें शमादि चरितार्थ और सफल होते हैं ।

एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तत्वमुमुक्षयोः ।
मरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भासमात्रता ॥३१॥

जहाँ इन वैराग्य और मुमुक्षुत्वकी मन्दता है, वहाँ शमादिका भी मरुस्थलमें जल-प्रतीतिके समान आभासमात्र ही समझना चाहिये।

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ॥३२॥
स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः।

मुक्तिकी कारणरूप सामग्रीमें भक्ति ही सबसे बढ़कर है और अपने वास्तविक स्वरूपका अनुसन्धान करना ही 'भक्ति' कहलाता है। कोई-कोई 'स्वात्मतत्त्वका अनुसन्धान ही भक्ति है'—ऐसा कहते हैं।

गुरूपसत्ति और प्रश्नविधि

उक्तसाधनसम्पन्नस्तत्त्वजिज्ञासुरात्मनः ॥३३॥
उपसीदेद्गुरुं प्राज्ञं यस्माद्बन्धविमोक्षणम्।

उक्त साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न आत्मतत्त्वका जिज्ञासु पुरुष प्राज्ञ (स्थितप्रज्ञ) गुरुके निकट जाय, जिससे उसके भव-बन्धकी निवृत्ति हो।

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः ॥३४॥
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः।
अहैतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ॥३५॥
तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः।
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः ॥३६॥

जो श्रोत्रिय हों, निष्पाप हों, कामनाओंसे शून्य हों, ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हों, ब्रह्मनिष्ठ हों, ईंधनरहित अग्निके समान शान्त हों, अकारण दयासिन्धु हों और प्रणत (शरणापन्न) सज्जनोंके बन्धु

(हितैषी) हों, उन गुरुदेवकी विनीत और विनम्र सेवासे भक्तिपूर्वक आराधना करके, उनके प्रसन्न होनेपर निकट जाकर अपना ज्ञातव्य इस प्रकार पूछे—

स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो
कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ ।
मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या
ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या ॥३७॥

हे शरणागतवत्सल, करुणासागर प्रभो ! आपको नमस्कार है । संसार-सागरमें पड़े हुए मेरा आप अपनी सरल तथा अतिशय कारुण्यामृतवर्षिणी कृपाकटाक्षसे उद्धार कीजिये ।

दुर्वारसंसारदवाग्नितप्तं
दोधूयमानं दुरदृष्टवातैः ।
भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः
शरण्यमन्यं यदहं न जाने ॥३८॥

जिससे छुटकारा पाना अति कठिन है उस संसारदावानलसे दग्ध तथा दुर्भाग्यरूपी प्रबल प्रभञ्जन (आँधी) से अत्यन्त कम्पित और भयभीत हुए मुझ शरणागतकी आप मृत्युसे रक्षा कीजिये; क्योंकि इस समय मैं और किसी शरण देनेवालेको नहीं जानता ।

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥३९॥

भयंकर संसार-सागरसे स्वयं उत्तीर्ण हुए और अन्य जनोंको भी बिना कारण ही तारते तथा लोकहितका आचरण करते अति शान्त महापुरुष ऋतुराज वसन्तके समान निवास करते हैं।

अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर-
श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम् ।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश-
प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ॥४०॥

महात्माओंका यह स्वभाव ही है कि वे स्वतः ही दूसरोंका श्रम दूर करनेमें प्रवृत्त होते हैं। सूर्यके प्रचण्ड तेजसे सन्तप्त पृथ्वी-तलको चन्द्रदेव स्वयं ही शान्त कर देते हैं।

ब्रह्मानन्दरसानुभूतिकलितैः पूतैः सुशीतैः सितै-
र्युष्मद्वाक्कलशोज्झितैः श्रुतिसुखैर्वाक्यामृतैः सेचय ।
सन्तप्तं भवतापदावदहनज्वालाभिरेनं प्रभो
धन्यास्ते भवदीक्षणक्षणगतेः पात्रीकृताः स्वीकृताः ॥४१॥

हे प्रभो ! प्रचण्ड संसार-दावानलकी ज्वालासे तपे हुए इस दीनशरणापन्नको आप अपने ब्रह्मानन्दरसानुभवसे युक्त परमपुनीत, सुशीतल, निर्मल और वाक्‌रूपी स्वर्णकलशसे निकले हुए श्रवणसुखद वचनामृतोंसे सींचिये [अर्थात् इसके तापको शान्त कीजिये]। वे धन्य हैं, जो आपके एक क्षणके करुणामय दृष्टिपथके पात्र होकर अपना लिये गये हैं।

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं
का वा गतिर्मे कतमोऽस्त्युपायः ।

जाने न किञ्चित्कृपयाव मां भोः
संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ॥४२॥

'मैं' इस संसार-समुद्रको कैसे तरूँगा ? मेरी क्या गति होगी ? उसका क्या उपाय है ?'—यह मैं कुछ नहीं जानता। प्रभो ! कृपया मेरी रक्षा कीजिये और मेरे संसार-दुःखके क्षयका आयोजन कीजिये।

उपदेश-विधि

तथा वदन्तं शरणागतं स्वं
संसारदावानलतापतप्तम्।
निरीक्ष्य कारुण्यरसार्द्रदृष्टया
दद्यादभीतिं सहसा महात्मा ॥४३॥

इस प्रकार कहते हुए, अपनी शरणमें आये संसारानल-संतप्त शिष्यको महात्मा गुरु करुणामयी दृष्टिसे देखकर सहसा अभय प्रदान करे।

विद्वान्स तस्मा उपसत्तिमीयुषे
मुमुक्षवे साधु यथोक्तकारिणे।
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय
तत्त्वोपदेशं कृपयैव कुर्यात् ॥४४॥

शरणागतिकी इच्छावाले उस मुमुक्षु, आज्ञाकारी, शान्तचित्त, शमदमादिसंयुक्त साधु शिष्यको गुरु कृपया [इस प्रकार] तत्त्वोपदेश करे—

श्रीगुरुरुवाच

मा भैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपायः
संसारसिन्धोस्तरणेऽस्त्युपायः।

येनैव याता यतयोऽस्य पारं
तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥४५॥

गुरु—हे विद्वन् ! तू डरे मत, तेरा नाश नहीं होगा। संसार-सागरसे तरनेका उपाय है। जिस मार्गसे यतिजन इसके पार गये हैं, वही मार्ग मैं तुझे दिखाता हूँ।

अस्त्युपायो महान्कश्चित्संसारभयनाशनः।
येन तीर्त्वा भवाम्भोधिं परमानन्दमाप्स्यसि ॥४६॥

संसाररूपी भयका नाश करनेवाला कोई एक महान् उपाय है जिसके द्वारा तू संसार-सागरको पार करके परमानन्द प्राप्त करेगा।

वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम्।
तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु ॥४७॥

वेदान्त-वाक्योंके अर्थका विचार करनेसे उत्तम ज्ञान होता है, जिससे फिर संसार-दुःखका आत्यन्तिक नाश हो जाता है।

श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षो-
र्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गीः।
यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य
मोक्षोऽविद्याकल्पिताद्देहबन्धात् ॥४८॥

श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग इनको भगवती श्रुति मुमुक्षुकी मुक्तिके साक्षात् हेतु बतलाती है। जो इन्हींमें स्थित हो जाता है उसका अविद्याकल्पित देह-बन्धनसे मोक्ष हो जाता है।

अज्ञानयोगात्परमात्मनस्तव
ह्यनात्मबन्धस्तत एव संसृतिः।

तयोर्विवेकोदितबोधवह्नि-
रज्ञानकार्यं प्रदहेत्समूलम् ॥४९॥

तुझ परमात्माका अनात्म-बन्धन अज्ञानके कारण ही है और उसीसे तुझको [जन्म-मरणरूप] संसार प्राप्त हुआ है । अतः उन (आत्मा और अनात्मा) के विवेकसे उत्पन्न हुआ बोधरूप अग्नि अज्ञानके कार्यरूप संसारको मूलसहित भस्म कर देगा ।

प्रश्न-निरूपण

शिष्य उवाच

कृपया श्रूयतां स्वामिन्प्रश्नोऽयं क्रियते मया ।
तदुत्तरमहं श्रुत्वा कृतार्थः स्यां भवन्मुखात् ॥५०॥

शिष्य—हे स्वामिन् ! कृपया सुनिये; मैं यह प्रश्न करता हूँ । इसका उत्तर आपके श्रीमुखसे सुनकर मैं कृतार्थ हो जाऊँगा ।

को नाम बन्धः कथमेष आगतः
कथं प्रतिष्ठास्य कथं विमोक्षः ।
कोऽसावनात्मा परमः क आत्मा
तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम् ॥५१॥

बन्धन क्या है ? यह कैसे हुआ ? इसकी स्थिति कैसे है ? और इससे मोक्ष कैसे मिल सकता है ? अनात्मा क्या है ? परमात्मा किसे कहते हैं ? और उनका विवेक कैसे होता है ? कृपया यह सब कहिये ।

शिष्य-प्रशंसा

श्रीगुरुरुवाच

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पावितं ते कुलं त्वया ।
यदविद्याबन्धमुक्त्या ब्रह्मीभवितुमिच्छसि ॥५२॥

गुरु—तू धन्य है, कृतकृत्य है, तेरा कुल तुझसे पवित्र हो गया, क्योंकि तू अविद्यारूपी बन्धनसे छूटकर ब्रह्मभावको प्राप्त होना चाहता है ।

स्व-प्रयत्नकी प्रधानता

ऋणमोचनकर्तारः पितुः सन्ति सुतादयः ।
बन्धमोचनकर्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन ॥५३॥

पिताके ऋणको चुकानेवाले तो पुत्रादि भी होते हैं, परन्तु भवबन्धनसे छुड़ानेवाला अपनेसे भिन्न और कोई नहीं है ।

मस्तकन्यस्तभारादेर्दुःखमन्यैर्निवार्यते ।
क्षुदादिकृतदुःखं तु विना स्वेन न केनचित् ॥५४॥

[जैसे] शिरपर रखे हुए बोझेका दुःख और भी दूर कर सकते हैं, परन्तु भूख-प्यास आदिका दुःख अपने सिवा और कोई नहीं मिटा सकता ।

पथ्यमौषधसेवा च क्रियते येन रोगिणा ।
आरोग्यसिद्धिर्दृष्टास्य नान्यानुष्ठितकर्मणा ॥५५॥

अथवा जैसे जो रोगी पथ्य और औषधका सेवन करता है

उसीको आरोग्य-सिद्धि होती देखी जाती है, किसी औरके द्वारा किये हुए कर्मोंसे कोई नीरोग नहीं होता ?

वस्तुस्वरूपं स्फुटबोधचक्षुषा
स्वेनैव वेद्यं ननु पण्डितेन ।
चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषैव
ज्ञातव्यमन्यैरवगम्यते किम् ॥५६॥

[वैसे ही] विवेकी पुरुषको वस्तुका स्वरूप भी स्वयं अपने ज्ञान-नेत्रोंसे ही जानना चाहिये, [किसी अन्यके द्वारा नहीं] । चन्द्रमाका स्वरूप अपने ही नेत्रोंसे देखा जाता है; दूसरोंके द्वारा क्या जाना जा सकता है ?

अविद्याकामकर्मादिपाशबन्धं विमोचितुम् ।
कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि ॥५७॥

अविद्या, कामना और कर्मादिके जालके बन्धनोंको सौ करोड़ कल्पोंमें भी अपने सिवा और कौन खोल सकता है ?

आत्मज्ञानका महत्त्व

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ॥५८॥

मोक्ष न योगसे सिद्ध होता है और न सांख्यसे, न कर्मसे और न विद्यासे । वह केवल ब्रह्मात्मैक्य-बोध (ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञान) से ही होता है, और किसी प्रकार नहीं ।

वीणाया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादनसौष्ठवम् ।
प्रजारञ्जनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते ॥५९॥

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥६०॥

जिस प्रकार वीणाका रूप-लावण्य तथा तन्त्रीको बजानेका सुन्दर ढंग मनुष्योंके मनोरञ्जनका ही कारण होता है, उससे कुछ साम्राज्यकी प्राप्ति नहीं हो जाती; उसी प्रकार विद्वानोंकी वाणीकी कुशलता, शब्दोंकी धाराप्रवाहिकता, शास्त्र-व्याख्यानकी कुशलता और विद्वत्ता भोगहीका कारण हो सकती है, मोक्षका नहीं ।

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ॥६१॥

परमतत्त्वको यदि न जाना तो शास्त्राध्ययन निष्फल (व्यर्थ) ही है, और यदि परमतत्त्वको जान लिया तो भी शास्त्राध्ययन निष्फल (अनावश्यक) ही है ।

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञात्तत्त्वमात्मनः ॥६२॥

शब्दजाल तो चित्तको भटकानेवाला एक महान् वन है, इसलिये किन्हीं तत्त्वज्ञानी महात्मासे प्रयत्नपूर्वक आत्मतत्त्वको जानना चाहिये ।

अज्ञानसर्पदष्टस्य ब्रह्मज्ञानौषधं विना ।
किमु वेदैश्च शास्त्रैश्च किमु मन्त्रैः किमौषधैः ॥६३॥

अज्ञानरूपी सर्पसे डँसे हुएको ब्रह्मज्ञानरूपी ओषधिके बिना वेदसे, शास्त्रसे, मन्त्रसे और औषधसे क्या लाभ ?

अपरोक्षानुभवकी आवश्यकता

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः ।
विनापरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥६४॥

औषधको बिना पिये केवल औषध-शब्दके उच्चारणमात्रसे रोग नहीं जाता, इसी प्रकार अपरोक्षानुभवके बिना केवल 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कहनेसे कोई मुक्त नहीं हो सकता ।

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः ।
बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम् ॥६५॥

बिना दृश्य-प्रपञ्चका विलय किये और आत्मतत्त्वको जाने केवल बाह्य शब्दोंसे, जिनका फल केवल उच्चारणमात्र ही है, मनुष्योंकी मुक्ति कैसे हो सकती है ?

अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिलभूश्रियम् ।
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥६६॥

बिना शत्रुओंका वध किये और बिना सम्पूर्ण पृथिवीमण्डलका ऐश्वर्य प्राप्त किये, 'मैं राजा हूँ'—ऐसा कहनेसे ही कोई राजा नहीं हो जाता ।

आप्तोक्तिं खननं तथोपरिशिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृतिं
निक्षेपः समपेक्षते न हि बहिःशब्दैस्तु निर्गच्छति ।
तद्वद् ब्रह्मविदोपदेशमननध्यानादिभिर्लभ्यते
मायाकार्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः ॥६७॥

[पृथिवीमें गड़े हुए धनको प्राप्त करनेके लिये जैसे] प्रथम किसी विश्वसनीय पुरुषके कथनकी, और फिर पृथिवीको खोदने, कंकड़-

पत्थर आदिको हटाने तथा [प्राप्त हुए धनको] स्वीकार करनेकी आवश्यकता होती है—कोरी बातोंसे वह बाहर नहीं निकलता, उसी प्रकार समस्त मायिक-प्रपञ्चसे शून्य निर्मल आत्मतत्त्व भी ब्रह्मवित् गुरुके उपदेश तथा उसके मनन और निदिध्यासनादिसे ही प्राप्त होता है, थोथी बातोंसे नहीं।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये।
स्वैरेव यत्नः कर्तव्यो रोगादाविव पण्डितैः ॥६८॥

इसलिये रोग आदिके समान भव-बन्धकी निवृत्तिके लिये विद्वान्को अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर स्वयं ही प्रयत्न करना चाहिये।

प्रश्न-विचार

यस्त्वयाद्य कृतः प्रश्नो वरीयाञ्छास्त्रविन्मतः।
सूत्रप्रायो निगूढार्थो ज्ञातव्यश्च मुमुक्षुभिः ॥६९॥

तूने आज जो प्रश्न किया है, शास्त्रज्ञजन उसको बहुत श्रेष्ठ मानते हैं। वह प्रायः सूत्ररूप (संक्षिप्त) है, तो भी गम्भीर अर्थयुक्त और मुमुक्षुओंके जाननेयोग्य है।

शृणुष्वावहितो विद्वन्यन्मया समुदीर्यते।
तदेतच्छ्रवणात् सद्यो भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे ॥७०॥

हे विद्वन्! जो मैं कहता हूँ, सावधान होकर सुन; उसको सुननेसे तू शीघ्र ही भवबन्धनसे छूट जायगा।

मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते
वैराग्यमत्यन्तमनित्यवस्तुषु ।

ततः शमश्चापि दमस्तितिक्षा
न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम् ॥७१॥
ततः श्रुतिस्तन्मननं सतत्त्व-
ध्यानं चिरं नित्यनिरन्तरं मुनेः ।
ततोऽविकल्पं परमेत्य विद्वा-
निहैव निर्वाणसुखं समृच्छति ॥७२॥

मोक्षका प्रथम हेतु अनित्य वस्तुओंमें अत्यन्त वैराग्य होना कहा है, तदनन्तर शम, दम, तितिक्षा और सम्पूर्ण आसक्तियुक्त कर्मोंका सर्वथा त्याग है। तदुपरान्त मुनिको श्रवण, मनन और चिरकालतक नित्य-निरन्तर आत्मतत्त्वका ध्यान करना चाहिये। तब वह विद्वान् परम निर्विकल्पावस्थाको प्राप्त होकर निर्वाण-सुखको पाता है।

यद्बोद्धव्यं तवेदानीमात्मानात्मविवेचनम् ।
तदुच्यते मया सम्यक् श्रुत्वात्मन्यवधारय ॥७३॥

जो आत्मानात्मविवेक अब तुझे जानना चाहिये वह मैं समझाता हूँ, तू उसे भलीभाँति सुनकर अपने चित्तमें स्थिर कर।

स्थूल शरीरका वर्णन

मज्जास्थिमेदःपलरक्तचर्म-
त्वगाह्वयैर्धातुभिरेभिरन्वितम् ।
पादोरुवक्षोभुजपृष्ठमस्तकै-
रङ्गैरुपाङ्गैरुपयुक्तमेतत् ॥७४॥
अहंममेति प्रथितं शरीरं
मोहास्पदं स्थूलमितीर्यते बुधैः ।

मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, रक्त, चर्म और त्वचा—इन सात धातुओंसे बने हुए तथा चरण, जंघा, वक्ष:स्थल (छाती), भुजा, पीठ और मस्तक आदि अङ्गोपाङ्गोंसे युक्त, 'मैं और मेरा' रूपसे प्रसिद्ध इस मोहके आश्रयरूप देहको विद्वान् लोग, 'स्थूल शरीर' कहते हैं ।

नभोनभस्वद्दहनाम्बुभूमयः
सूक्ष्माणि भूतानि भवन्ति तानि ॥७५॥
परस्परांशैर्मिलितानि भूत्वा
स्थूलानि च स्थूलशरीरहेतवः ।
मात्रास्तदीया विषया भवन्ति
शब्दादयः पञ्च सुखाय भोक्तुः ॥७६॥

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये सूक्ष्म भूत हैं । इनके अंश परस्पर मिलनेसे स्थूल होकर स्थूल शरीरके हेतु होते हैं और इन्हींकी तन्मात्राएँ भोक्ता जीवके भोगरूप सुखके लिये शब्दादि पाँच विषय हो जाती हैं ।

य एषु मूढा विषयेषु बद्धा
रागोरुपाशेन सुदुर्दमेन ।
आयान्ति निर्यान्त्यध ऊर्ध्वमुच्चैः
स्वकर्मदूतेन जवेन नीताः ॥७७॥

जो मूढ इन विषयोंमें रागरूपी सुदृढ एवं विस्तृत बन्धनसे बँध जाते हैं वे अपने कर्मरूपी दूतके द्वारा वेगसे प्रेरित होकर अनेक उत्तमाधम योनियोंमें आते-जाते हैं ।

विषय-निन्दा

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च
पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः ।
कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीन-
भृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम् ॥७८॥

अपने-अपने स्वभावके अनुसार शब्दादि पाँच विषयोंमेंसे केवल एक-एकसे बँधे हुए हरिण, हाथी, पतङ्ग, मछली और भौंरे मृत्युको प्राप्त होते हैं, फिर इन पाँचोंसे जकड़ा हुआ मनुष्य कैसे बच सकता है ?

दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि ।
विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम् ॥७९॥

दोषमें विषय काले सर्पके विषसे भी अधिक तीव्र है; क्योंकि विष तो खानेवालेको ही मारता है, परन्तु विषय तो आँखसे देखनेवालेको भी नहीं छोड़ते ।

विषयाशामहापाशाद्यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात् ।
स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः षट्शास्त्रवेद्यपि ॥८०॥

जो विषयोंकी आशारूप कठिन बन्धनसे छूटा हुआ है वही मोक्षका भागी होता है और कोई नहीं; चाहे वह छहों दर्शनोंका ज्ञाता क्यों न हो ।

आपातवैराग्यवतो मुमुक्षून्
भवाब्धिपारं प्रतियातुमुद्यतान् ।

आशाग्रहो मज्जयतेऽन्तराले
विगृह्य कण्ठे विनिवर्त्य वेगात् ॥८१॥

संसार-सागरको पार करनेके लिये उद्यत हुए क्षणिक वैराग्यवाले मुमुक्षुओंको आशारूपी ग्राह अति वेगसे बीचमें ही रोककर गला पकड़कर डुबो देता है।

विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्त्यसिना हतः।
स गच्छति भवाम्भोधेः पारं प्रत्यूहवर्जितः ॥८२॥

जिसने वैराग्यरूपी खड्गसे विषयैषणारूपी ग्राहको मार दिया है वही निर्विघ्न संसार-समुद्रके उस पार जा सकता है।

विषमविषयमार्गैर्गच्छतोऽनच्छबुद्धेः
प्रतिपदमभियातो मृत्युरप्येष विद्धि।
हितसुजनगुरूक्त्या गच्छतः स्वस्य युक्त्या
प्रभवति फलसिद्धिः सत्यमित्येव विद्धि ॥८३॥

विषयरूपी विषम मार्गमें चलनेवाले मलिनबुद्धिको पद-पदपर मृत्यु आती है—ऐसा जानो। और यह भी बिल्कुल ठीक समझो कि हितैषी, सज्जन अथवा गुरुके कथनानुसार अपनी युक्तिसे चलनेवालेको फल-सिद्धि हो ही जाती है।

मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति
त्यजातिदूराद्विषयान् विषं यथा।
पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-
प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥८४॥

यदि तुझे मोक्षकी इच्छा है तो विषयोंको विषके समान दूर-हीसे त्याग दे। और सन्तोष, दया, क्षमा, सरलता, शम और दमका अमृतके समान नित्य आदरपूर्वक सेवन कर।

देहासक्तिकी निन्दा

अनुक्षणं यत्परिहृत्य कृत्य-
मनाद्यविद्याकृतबन्धमोक्षणम् ।
देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे
यः सज्जते स स्वमनेन हन्ति ॥८५॥

जो अनादि अविद्याकृत बन्धनको छुड़ानारूप अपना कर्त्तव्य त्यागकर प्रतिक्षण इस परार्थ (अन्यके भोग्यरूप) देहके पोषणमें ही लगा रहता है वह [अपनी इस प्रवृत्तिसे] स्वयं अपना घात करता है ।

शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति ।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स इच्छति ॥८६॥

जो शरीरपोषणमें लगा रहकर आत्मतत्त्वको देखना चाहता है वह मानो काष्ठ-बुद्धिसे ग्राहको पकड़कर नदी पार करना चाहता है ।

मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु ।
मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति ॥८७॥

शरीरादिमें मोह रखना ही मुमुक्षुकी बड़ी भारी मौत है; जिसने मोहको जीता है वही मुक्तिपदका अधिकारी है ।

मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु ।
यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥८८॥

देह, स्त्री और पुत्रादिमें मोहरूप महामृत्युको छोड़; जिसको जीतकर मुनिजन भगवान्के उस परपदको प्राप्त होते हैं ।

स्थूल शरीर

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम् ।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः ॥८९॥

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु (नस), मेद, मज्जा और अस्थियोंका समूह तथा मल-मूत्रसे भरा हुआ यह स्थूल देह अति निन्दनीय है ।

पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा ।
समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः ।
अवस्था जागरस्तस्य स्थूलार्थानुभवो यतः ॥९०॥

पञ्चीकृत स्थूल भूतोंसे पूर्व-कर्मानुसार उत्पन्न हुआ यह शरीर आत्माका स्थूल भोगायतन है; इसकी [प्रतीतिकी] अवस्था जाग्रत् है, जिसमें कि स्थूल पदार्थोंका अनुभव होता है ।

बाह्येन्द्रियैः स्थूलपदार्थसेवां
स्रक्चन्दनस्त्र्यादिविचित्ररूपाम् ।
करोति जीवः स्वयमेतदात्मना
तस्मात्प्रशस्तिर्वपुषोऽस्य जागरे ॥९१॥

इससे तादात्म्यको प्राप्त होकर ही जीव माला, चन्दन तथा स्त्री आदि नाना प्रकारके स्थूल पदार्थोंको बाह्येन्द्रियोंसे सेवन करता है, इसलिये जाग्रत्-अवस्थामें इस (स्थूल) देहकी प्रधानता है ।

सर्वोऽपि बाह्यसंसारः पुरुषस्य यदाश्रयः ।
विद्धि देहमिदं स्थूलं गृहवद्गृहमेधिनः ॥९२॥

जिसके आश्रयसे जीवको सम्पूर्ण बाह्य जगत् प्रतीत होता है, गृहस्थके घरके तुल्य उसे ही स्थूल देह जानो ।

स्थूलस्य सम्भवजरामरणानि धर्माः
स्थौल्यादयो बहुविधाः शिशुताद्यवस्थाः ।
वर्णाश्रमादिनियमा बहुधा यमाः स्युः
पूजावमानबहुमानमुखा विशेषाः ॥९३॥

स्थूल देहके ही जन्म, जरा, मरण तथा स्थूलता आदि धर्म हैं, बालकपन आदि नाना प्रकारकी अवस्थाएँ हैं; वर्णाश्रमादिके निमित्तसे अनेक प्रकारके नियम और यम हैं; तथा इसीकी पूजा, मान, अपमान आदि विशेषताएँ हैं ।

दस इन्द्रियाँ

बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि
घ्राणं च जिह्वा विषयावबोधनात् ।
वाक्पाणिपादं गुदमप्युपस्थः
कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु ॥९४॥

श्रवण, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनसे विषयका ज्ञान होता है; तथा वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनका कर्मोंकी ओर झुकाव होता है ।

अन्तःकरणचतुष्टय

निगद्यतेऽन्तःकरणं मनोधी-
रहंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः ।

मनस्तु सङ्कल्पविकल्पनादिभि-
र्बुद्धिः पदार्थाध्यवसायधर्मतः ॥९५॥
अत्राभिमानादहमित्यहङ्कृतिः
स्वार्थानुसन्धानगुणेन चित्तम् ॥९६॥

अपनी वृत्तियोंके कारण अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार [इन चार नामोंसे] कहा जाता है। सङ्कल्प-विकल्पके कारण मन, पदार्थका निश्चय करनेके कारण बुद्धि, 'अहं-अहं' (मैं-मैं) ऐसा अभिमान करनेसे अहङ्कार और अपना इष्ट-चिन्तनके कारण यह चित्त कहलाता है।

पञ्चप्राण

प्राणापानव्यानोदानसमाना भवत्यसौ प्राणः।
स्वयमेववृत्तिभेदाद्विकृतिभेदात्सुवर्णसलिलादिवत्॥९७॥

अपने विकारोंके कारण सुवर्ण और जल आदिके समान स्वयं प्राण ही वृत्तिभेदसे प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—इन पाँच नामोंवाला होता है।

सूक्ष्म शरीर

वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च
प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च।
बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी
पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः ॥९८॥

वागादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, श्रवणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणादि पाँच प्राण, आकाशादि पाँच भूत, बुद्धि आदि अन्तःकरण-

चतुष्टय, अविद्या तथा काम और कर्म यह पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्म शरीर कहलाता है।

इदं शरीरं शृणु सूक्ष्मसंज्ञितं
लिङ्गं त्वपञ्चीकृतभूतसम्भवम्।
सवासनं कर्मफलानुभावकं
स्वाज्ञानतोऽनादिरुपाधिरात्मनः ॥९९॥

यह सूक्ष्म अथवा लिङ्गशरीर अपञ्चीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुआ है; यह वासनायुक्त होकर कर्मफलोंका अनुभव करानेवाला है। और स्वस्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण आत्माकी अनादि उपाधि है।

स्वप्नो भवत्यस्य विभक्त्यवस्था
स्वमात्रशेषेण विभाति यत्र।
स्वप्ने तु बुद्धिः स्वयमेव जाग्रत्-
कालीननानाविधवासनाभिः।
कर्त्रादिभावं प्रतिपद्य राजते
यत्र स्वयंज्योतिरयं परात्मा ॥१००॥

स्वप्न इसकी अभिव्यक्तिकी अवस्था है, जहाँ यह स्वयं ही बचा हुआ भासता है। स्वप्नमें, जहाँ यह स्वयंप्रकाश परात्मा शुद्ध चेतन ही [भिन्न-भिन्न पदार्थोंके रूपमें] भासता है, बुद्धि जाग्रत्कालीन नाना प्रकारकी वासनाओंसे कर्ता आदि भावोंको प्राप्त होकर स्वयं ही प्रतीत होने लगती है।

धीमात्रकोपाधिरशेषसाक्षी
न लिप्यते तत्कृतकर्मलेशैः।

यस्मादसङ्गस्तत एव कर्मभि-
र्न लिप्यते किञ्चिदुपाधिना कृतैः ॥१०१॥

बुद्धि ही जिसकी उपाधि है ऐसा वह सर्वसाक्षी उस (बुद्धि) के किये हुए कर्मोंसे तनिक भी लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह असङ्ग है। अतः उपाधिकृत कर्मोंसे तनिक भी लिप्त नहीं हो सकता।

सर्वव्यापृतिकरणं लिङ्गमिदं स्याच्चिदात्मनः पुंसः।
वास्यादिकमिव तक्ष्णस्तेनैवात्मा भवत्यसङ्गोऽयम्॥१०२॥

यह लिङ्गदेह चिदात्मा पुरुषके सम्पूर्ण व्यापारोंका करण है, जिस प्रकार बढ़ईका बसूला होता है। इसीलिये यह आत्मा असङ्ग है।

अन्धत्वमन्दत्वपटुत्वधर्माः
सौगुण्यवैगुण्यवशाद्धि चक्षुषः।
बाधिर्यमूकत्वमुखास्तथैव
श्रोत्रादिधर्मा न तु वेत्तुरात्मनः ॥१०३॥

नेत्रोंके सदोष अथवा निर्दोष होनेसे प्राप्त हुए अन्धापन, धुँधलापन अथवा स्पष्ट देखना आदि नेत्रोंके ही धर्म हैं; इसी प्रकार बहिरापन, गूँगापन आदि भी श्रोत्रादिके ही धर्म हैं; सर्वसाक्षी आत्माके नहीं।

प्राणके धर्म

उच्छ्वासनिःश्वासविजृम्भणक्षुत्
प्रस्पन्दनाद्युत्क्रमणादिकाः क्रियाः।

प्राणादिकर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः
प्राणस्य धर्मावशनापिपासे ॥१०४॥

श्वास-प्रश्वास, जमुहाई, छींक, काँपना और उछलना आदि क्रियाओंको तत्त्वज्ञ प्राणादिका धर्म बतलाते हैं तथा क्षुधा-पिपासा भी प्राणहीके धर्म हैं ।

अहंकार

अन्तःकरणमेतेषु चक्षुरादिषु वर्ष्मणि ।
अहमित्यभिमानेन तिष्ठत्याभासतेजसा ॥१०५॥

शीरके अंदर इन चक्षु आदि इन्द्रियों (इन्द्रियके गोलकों) में चिदाभासके तेजसे व्याप्त हुआ अन्तःकरण 'मैंपन' का अभिमान करता हुआ स्थिर रहता हे ।

अहङ्कारः स विज्ञेयः कर्ता भोक्ताभिमान्ययम् ।
सत्त्वादिगुणयोगेन चावस्थात्रयमश्नुते ॥१०६॥

इसीको अहङ्कार जानना चाहिये । यही कर्त्ता, भोक्ता तथा मैंपनका अभिमान करनेवाला है और यही सत्त्व आदि गुणोंके योगसे तीनों अवस्थाओंको प्राप्त होता है ।

विषयाणामानुकूल्ये सुखी दुःखी विपर्यये ।
सुखं दुःखं च तद्धर्मः सदानन्दस्य नात्मनः ॥१०७॥

विषयोंकी अनुकूलतासे यह सुखी और प्रतिकूलतासे दुखी होता है । सुख और दुःख इस अहङ्कारके ही धर्म हैं, नित्यानन्द-स्वरूप आत्माके नहीं ।

प्रेमकी आत्मार्थता

आत्मार्थत्वेन हि प्रेयान् विषयो न स्वतः प्रियः ।
स्वत एव हि सर्वेषामात्मा प्रियतमो यतः ॥१०८॥

विषय स्वतः प्रिय नहीं होते, किन्तु आत्माके लिये ही प्रिय होते हैं; क्योंकि स्वतः प्रियतम तो सबको आत्मा ही है ।

तत आत्मा सदानन्दो नास्य दुःखं कदाचन ।
यत्सुषुप्तौ निर्विषय आत्मानन्दोऽनुभूयते ।
श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं च जाग्रति ॥१०९॥

इसलिये आत्मा सदा आनन्दस्वरूप है, इसमें दुःख कभी नहीं है । तभी सुषुप्तिमें विषयोंका अभाव रहते हुए भी आत्मानन्दका अनुभव होता है । इस विषयमें श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य (इतिहास) और अनुमान-प्रमाण जाग्रत् (मौजूद) हैं ।

माया-निरूपण

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति-
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥११०॥

जो अव्यक्त नामवाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वरकी परा शक्ति है, वही माया है; जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है । बुद्धिमान् जन इसके कार्यसे ही इसका अनुमान करते हैं ।

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।

साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ॥१११॥

वह न सत् है, न असत् है और न [सदसत्] उभयरूप है; न भिन्न है, न अभिन्न है और न [भिन्नाभिन्न] उभयरूप है; न अङ्गसहित है, न अङ्गरहित है और न [साङ्गानङ्ग] उभयात्मिका ही है; किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीयरूपा (जो कही न जा सके ऐसी) प्रसिद्ध है।

शुद्धाद्वयब्रह्मविबोधनाश्या
सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा।
रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा
गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः ॥११२॥

रज्जुके ज्ञानसे सर्प-भ्रमके समान वह अद्वितीय शुद्ध ब्रह्मके ज्ञानसे ही नष्ट होनेवाली है। अपने-अपने प्रसिद्ध कार्योंके कारण सत्त्व, रज और तम—ये उसके तीन गुण प्रसिद्ध हैं।

रजोगुण

विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं
दुःखादयो ये मनसो विकाराः ॥११३॥

क्रियारूपा विक्षेपशक्ति रजोगुणकी है जिससे सनातन-कालसे समस्त क्रियाएँ होती आयी हैं और जिससे रागादि और दुःखादि, जो मनके विकार हैं, सदा उत्पन्न होते हैं।

कामः क्रोधो लोभदम्भाद्यसूया-
हङ्कारेर्ष्यामत्सराद्यास्तु घोराः ।
धर्मा एते राजसाः पुम्प्रवृत्ति-
र्यस्मादेषा तद्रजो बन्धहेतुः ॥११४॥

काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, असूया (गुणोंमें दोष ढूँढ़ना), अभिमान, ईर्ष्या और मत्सर—ये घोर धर्म रजोगुणके ही हैं । अतः जिसके कारण जीव कर्मोंमें प्रवृत्त होता है वह रजोगुण ही उसके बन्धनका हेतु है ।

तमोगुण

एषावृतिर्नाम तमोगुणस्य
शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा ।
सैषा निदानं पुरुषस्य संसृते-
र्विक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः ॥११५॥

जिसके कारण वस्तु कुछ-की-कुछ प्रतीत होने लगती है वह तमोगुणकी आवरणशक्ति है । यही पुरुषके (जन्म-मरणरूप) संसार-का आदिकारण है और यही विक्षेपशक्तिके प्रसारका भी हेतु है ।

प्रज्ञावानपि पण्डितोऽपि चतुरोऽप्यत्यन्तसूक्ष्मार्थदृक्
व्यालीढस्तमसा न वेत्ति बहुधा सम्बोधितोऽपि स्फुटम् ।
भ्रान्त्यारोपितमेव साधु कलयत्यालम्बते तद्गुणान्
हन्तासौ प्रबला दुरन्ततमसः शक्तिर्महत्यावृतिः ॥११६॥

तमसे ग्रस्त हुआ पुरुष अति बुद्धिमान्, विद्वान्, चतुर और शास्त्रके अत्यन्त सूक्ष्म अर्थोंको देखनेवाला भी हो तो भी वह नाना

प्रकार समझनेसे भी अच्छी तरह नहीं समझता; वह भ्रमसे आरोपित किये हुए पदार्थोंको ही सत्य समझता है और उन्हींके गुणोंका आश्रय लेता है। अहो! दुरन्त तमोगुणकी यह महती आवरण शक्ति बड़ी ही प्रबल है।

अभावना वा विपरीतभावना-
सम्भावना विप्रतिपत्तिरस्याः।
संसर्गयुक्तं न विमुञ्चति ध्रुवं
विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम् ॥११७॥

इस आवरणशक्तिके संसर्गसे युक्त पुरुषको अभावना, विपरीत-भावना, असम्भावना और विप्रतिपत्ति—ये तमोगुणकी शक्तियाँ नहीं छोड़तीं और विक्षेपशक्ति भी उसे निरन्तर डावाँडोल ही रखती है।*

अज्ञानमालस्यजडत्वनिद्रा-
प्रमादमूढत्वमुखास्तमोगुणाः।
एतैः प्रयुक्तो न हि वेत्ति किञ्चि-
न्निद्रालुवत्स्तम्भवदेव तिष्ठति ॥११८॥

अज्ञान, आलस्य, जडता, निद्रा, प्रमाद, मूढता आदि तमके गुण हैं। इनसे युक्त हुआ पुरुष कुछ नहीं समझता; वह निद्रालु या स्तम्भके समान [जडवत्] रहता है।

---

*'ब्रह्म नहीं है' जिससे ऐसा ज्ञान हो वह 'अभावना' कहलाती है। 'मैं शरीर हूँ' यह 'विपरीतभावना' है। किसीके होनेमें सन्देह 'असम्भावना' है और 'है या नहीं' इस तरहके संशयको 'विप्रतिपत्ति' कहते हैं। 'प्रपञ्चका व्यवहार' ही मायाकी 'विक्षेपशक्ति' है।

सत्त्वगुण

सत्त्वं विशुद्धं जलवत्तथापि
ताभ्यां मिलित्वा सरणाय कल्पते ।
यत्रात्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः सन्
प्रकाशयत्यर्क इवाखिलं जडम् ॥११९॥

सत्त्वगुण जलके समान शुद्ध है, तथापि रज और तमसे मिलनेपर वह भी पुरुषके संसार-बन्धनका कारण होता है; इसमें प्रतिबिम्बित होकर आत्मबिम्ब सूर्यके समान समस्त जड पदार्थोंको प्रकाशित करता है ।

मिश्रस्य सत्त्वस्य भवन्ति धर्मा-
स्त्वमानिताद्या नियमा यमाद्याः ।
श्रद्धा च भक्तिश्च मुमुक्षुता च
दैवी च सम्पत्तिरसन्निवृत्तिः ॥१२०॥

अमानित्व आदि, यम-नियमादि, श्रद्धा, भक्ति, मुमुक्षुता, दैवी-सम्पत्ति तथा असत्‌का त्याग—ये मिश्र सत्त्वगुणके धर्म हैं ।

विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः
स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः ।
तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा
यया सदानन्दरसं समृच्छति ॥१२१॥

प्रसन्नता, आत्मानुभव, परमशान्ति, तृप्ति, आत्यन्तिक आनन्द और परमात्मामें स्थिति—ये विशुद्ध सत्त्वगुणके धर्म हैं, जिनसे मुमुक्षु नित्यानन्दरसको प्राप्त करता है ।

कारण-शरीर

अव्यक्तमेतत्त्रिगुणैर्निरुक्तं
तत्कारणं नाम शरीरमात्मनः ।
सुषुप्तिरेतस्य विभक्त्यवस्था
प्रलीनसर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्तिः ॥१२२॥

इस प्रकार तीनों गुणोंके निरूपणसे यह अव्यक्तका वर्णन हुआ । यही आत्माका कारण-शरीर है । इसकी अभिव्यक्तिकी अवस्था सुषुप्ति है, जिसमें बुद्धिकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं ।

सर्वप्रकारप्रमितिप्रशान्ति-
र्बीजात्मनावस्थितिरेव बुद्धेः ।
सुषुप्तिरेतस्य किल प्रतीतिः
किञ्चिन्न वेद्मीति जगत्प्रसिद्धेः ॥१२३॥

जहाँ सब प्रकारकी प्रमा (ज्ञान) शान्त हो जाती है और बुद्धि बीजरूपसे ही स्थिर रहती है, वह सुषुप्ति-अवस्था है । इसकी प्रतीति 'मैं कुछ नहीं जानता'—ऐसी लोक-प्रसिद्ध उक्तिसे होती है ।

अनात्म-निरूपण

देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादयः
सर्वे विकारा विषयाः सुखादयः ।
व्योमादिभूतान्यखिलं च विश्व-
मव्यक्तपर्यन्तमिदं ह्यनात्मा ॥१२४॥

देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और अहङ्कार आदि सारे विकार, सुखादि सम्पूर्ण विषय, आकाशादि भूत और अव्यक्तपर्यन्त निखिल विश्व—ये सभी अनात्मा हैं ।

माया मायाकार्यं सर्वं महदादि देहपर्यन्तम् ।
असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम् ॥१२५॥

माया और महत्तत्त्वसे लेकर देह पर्यन्त मायाके सम्पूर्ण कार्यों-को तू मरुमरीचिकाके समान असत् और अनात्मक जान ।

आत्म-निरूपण

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि स्वरूपं परमात्मनः ।
यद्विज्ञाय नरो बन्धान्मुक्तः कैवल्यमश्नुते ॥१२६॥

अब मैं तुझे परमात्माका स्वरूप बताता हूँ जिसे जानकर मनुष्य बन्धनसे छूटकर कैवल्यपद प्राप्त करता है ।

अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यमहंप्रत्ययलम्बनः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्पञ्चकोशविलक्षणः ॥१२७॥

अहं-प्रत्ययका आधार कोई स्वयं नित्य पदार्थ है, जो तीनों अवस्थाओंका साक्षी होकर भी पञ्चकोशातीत है ।

यो विजानाति सकलं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
बुद्धितद्वृत्तिसद्भावमभावमहमित्ययम् ॥१२८॥

जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें बुद्धि और उसकी वृत्तियोंके होने और न होनेको 'अहंभाव' से स्थित हुआ जानता है ।

यः पश्यति स्वयं सर्वं यं न पश्यति कश्चन ।
यश्चेतयति बुद्ध्यादिं न तु यं चेतयत्ययम् ॥१२९॥

जो स्वयं सबको देखता है; किन्तु जिसको कोई नहीं देख सकता । जो बुद्धि आदिको प्रकाशित करता है; किन्तु जिसे बुद्धि आदि प्रकाशित नहीं कर सकते ।

येन विश्वमिदं व्याप्तं यन्न व्याप्नोति किञ्चन ।
आभारूपमिदं सर्वं यं भान्तमनुभात्ययम् ॥१३०॥

जिसने सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त किया हुआ है; किन्तु जिसे कोई व्याप्त नहीं कर सकता तथा जिसके भासनेपर यह आभासरूप सारा जगत् भासित हो रहा है ।

यस्य सन्निधिमात्रेण देहेन्द्रियमनोधियः ।
विषयेषु स्वकीयेषु वर्तन्ते प्रेरिता इव ॥१३१॥

जिसकी सन्निधिमात्रसे देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि प्रेरित हुए-से अपने-अपने विषयोंमें बर्तते हैं ।

अहङ्कारादिदेहान्ता विषयाश्च सुखादयः ।
वेदयन्ते घटवद्येन नित्यबोधस्वरूपिणा ॥१३२॥

अहंकारसे लेकर देहपर्यन्त और सुख आदि समस्त विषय जिस नित्यज्ञानस्वरूपके द्वारा घटके समान जाने जाते हैं ।

एषोऽन्तरात्मा पुरुषः पुराणो
निरन्तराखण्डसुखानुभूतिः ।
सदैकरूपः प्रतिबोधमात्रो
येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥१३३॥

यही नित्य अखण्डानन्दानुभवरूप अन्तरात्मा पुराणपुरुष है जो सदा एकरूप और बोधमात्र है तथा जिसकी प्रेरणासे वागादि इन्द्रियाँ और प्राण चलते हैं।

अत्रैव सत्त्वात्मनि धीगुहाया-
मव्याकृताकाश उरुप्रकाशः ।
आकाश उच्चै रविवत्प्रकाशते
स्वतेजसा विश्वमिदं प्रकाशयन् ॥१३४॥

इस सत्त्वात्मा अर्थात् बुद्धिरूप गुहामें स्थित अव्यक्ताकाशके भीतर एक परमप्रकाशमय आकाश सूर्यके समान अपने तेजसे इस सम्पूर्ण जगत्‌को देदीप्यमान करता हुआ बड़ी तीव्रतासे प्रकाशमान हो रहा है।

ज्ञाता मनोऽहङ्कृतिविक्रियाणां
देहेन्द्रियप्राणकृतक्रियाणाम् ।
अयोऽग्निवत्ताननुवर्तमानो
न चेष्टते नो विकरोति किञ्चन ॥१३५॥

वह मन और अहंकाररूप विकारोंका तथा देह, इन्द्रिय और प्राणोंकी क्रियाओंका ज्ञाता है। तथा तपाये हुए लोहपिण्डके समान उनका अनुवर्तन करता हुआ भी न कुछ चेष्टा करता है और न विकारको ही प्राप्त होता है।

न जायते नो म्रियते न वर्धते
न क्षीयते नो विकरोति नित्यः ।
विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मिन्
न लीयते कुम्भ इवाम्बरं स्वयम् ॥१३६॥

वह न जन्मता है, न मरता है, न बढ़ता है, न घटता है और न विकारको प्राप्त होता है। वह नित्य है और इस शरीरके लीन होनेपर भी घटके टूटनेपर घटाकाशके समान लीन नहीं होता।

प्रकृतिविकृतिभिन्नः शुद्धबोधस्वभावः
सदसदिदमशेषं भासयन्निर्विशेषः।
विलसति परमात्मा जाग्रदादिष्ववस्था-
स्वहमहमिति साक्षात् साक्षिरूपेण बुद्धेः॥१३७॥

प्रकृति और उसके विकारोंसे भिन्न, शुद्ध ज्ञानस्वरूप, वह निर्विशेष परमात्मा सत्-असत् सबको प्रकाशित करता हुआ जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें अहंभावसे स्फुरित होता हुआ बुद्धिके साक्षीरूपसे साक्षात् विराजमान है।

नियमितमनसा त्वं स्वमात्मानमात्म-
न्ययमहमिति साक्षाद्विद्धि बुद्धिप्रसादात्।
जनिमरणतरङ्गापारसंसारसिन्धुं
प्रतर भव कृतार्थो ब्रह्मरूपेण संस्थः॥१३८॥

तू इस आत्माको संयतचित्त होकर बुद्धिके प्रसन्न होनेपर 'यह मैं हूँ'—ऐसा अपने अन्तःकरणमें साक्षात् अनुभव कर। और [इस प्रकार] जन्म-मरणरूपी तरङ्गोंवाले इस अपार संसार-सागरको पार कर तथा ब्रह्मरूपसे स्थित होकर कृतार्थ हो जा।

अध्यास

अत्रानात्मन्यहमिति मतिर्बन्ध एषोऽस्य पुंसः
प्राप्तोऽज्ञानाज्जननमरणक्लेशसम्पातहेतुः ।

येनैवायं वपुरिदमसत्सत्यमित्यात्मबुद्ध्या
पुष्यत्युक्षत्यवति विषयैस्तन्तुभिः कोशकृद्वत् ॥१३९॥

पुरुषका अनात्मवस्तुओंमें 'अहम्' इस आत्मबुद्धिका होना ही जन्म-मरणरूपी क्लेशोंकी प्राप्ति करानेवाला अज्ञानसे प्राप्त हुआ बन्धन है, जिसके कारण यह जीव इस असत् शरीरको सत्य समझकर इसमें आत्मबुद्धि हो जानेसे तन्तुओंसे रेशमके कीड़ेके समान, इसका विषयोंद्वारा पोषण, मार्जन और रक्षण करता रहता है।

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा
विवेकाभावाद्वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा।
ततोऽनर्थव्रातो निपतति समादातुरधिक-
स्ततो योऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः शृणु सखे ॥१४०॥

मूढ़ पुरुषको तमोगुणके कारण ही अन्यमें अन्य-बुद्धि होती है; विवेक न होनेसे ही रज्जुमें सर्प-बुद्धि होती है, ऐसी बुद्धिवालेको ही नाना प्रकारके अनर्थोंका समूह आ घेरता है; अतः हे मित्र! सुन, यह जो असद्ग्राह (असत्को सत्य मानना) है वही बन्धन है।

अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या
स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम्।
समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा
तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम् ॥१४१॥

अखण्ड, नित्य और अद्वय बोध-शक्तिसे स्फुरित होते हुए अखण्डैश्वर्यसम्पन्न आत्मतत्त्वको यह तमोमयी आवरणशक्ति इस प्रकार ढँक लेती है जैसे सूर्यमण्डलको राहु।

तिरोभूते स्वात्मन्यमलतरतेजोवति पुमा-
ननात्मानं मोहादहमिति शरीरं कलयति ।
ततः कामक्रोधप्रभृतिभिरमुं बन्धनगुणैः
परं विक्षेपाख्या रजस उरुशक्तिर्व्यथयति ॥१४२॥

अति निर्मल तेजोमय आत्मतत्त्वके तिरोभूत (अदृश्य) होनेपर पुरुष अनात्मदेहको ही मोहसे 'मैं हूँ' ऐसा मानने लगता है। तब रजोगुणकी विक्षेप नामवाली अति प्रबल शक्ति काम-क्रोधादि अपने बन्धनकारी गुणोंसे इसको व्यथित करने लगती है ।

महामोहग्राहग्रसनगलितात्मावगमनो
धियो नानावस्थाःस्वयमभिनयंस्तद्गुणतया ।
अपारे संसारे विषयविषपूरे जलनिधौ
निमज्ज्योन्मज्ज्यायं भ्रमति कुमतिःकुत्सितगतिः॥१४३॥

तब यह नाना प्रकारकी नीच गतियोंवाला कुमति जीव विषयरूपी विषसे भरे हुए इस अपार संसार-समुद्रमें डूबता-उछलता महामोहरूप ग्राहके पंजेमें पड़कर आत्मज्ञानके नष्ट हो जानेसे बुद्धिके गुणोंका अभिमानी होकर उसकी नाना अवस्थाओंका अभिनय (नाट्य) करता हुआ भ्रमता रहता है ।

भानुप्रभासञ्जनिताभ्रपङ्क्ति-
र्भानुं तिरोधाय विजृम्भते यथा ।
आत्मोदिताहङ्कृतिरात्मतत्त्वं
तथा तिरोधाय विजृम्भते स्वयम् ॥१४४॥

जिस प्रकार सूर्यके तेजसे उत्पन्न हुई मेघमाला सूर्यहीको ढँककर स्वयं फैल जाती है उसी प्रकार आत्मासे प्रकट हुआ अहङ्कार आत्माको ही आच्छादित करके स्वयं स्थित हो जाता है।

आवरणशक्ति और विक्षेपशक्ति

कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघै-
र्व्यथयति हिमझञ्झावायुरुग्रो यथैतान्।
अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धिं
क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः॥१४५॥

जिस प्रकार किसी दुर्दिनमें (जिस दिन आँधी, मेघ आदिका विशेष उत्पात हो) सघन मेघोंके द्वारा सूर्यदेवके आच्छादित होनेपर अति भयङ्कर और ठंडी-ठंडी आँधी सबको खिन्न कर देती है, उसी प्रकार बुद्धिके निरन्तर तमोगुणसे आवृत होनेपर मूढ पुरुषको विक्षेपशक्ति नाना प्रकारके दुःखोंसे सन्तप्त करती है।

एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम्॥१४६॥

इन दोनों (आवरण और विक्षेप) शक्तियोंसे ही पुरुषको बन्धनकी प्राप्ति हुई है और इन्हींसे मोहित होकर यह देहको आत्मा मानकर संसार-चक्रमें भ्रमता रहता है।

बन्ध-निरूपण

बीजं संसृतिभूमिजस्य तु तमो देहात्मधीरङ्कुरो
रागः पल्लवमम्बु कर्म तु वपुः स्कन्धोऽसवः शाखिकाः।

अग्राणीन्द्रियसंहतिश्च विषयाः पुष्पाणि दुःखं फलं
नानाकर्मसमुद्भवं बहुविधं भोक्तात्र जीवः खगः ॥१४७॥

संसाररूपी वृक्षका बीज अज्ञान है, देहात्मबुद्धि उसका अङ्कुर है, राग पत्ते हैं, कर्म जल है, शरीर स्तम्भ (तना) है, प्राण शाखाएँ हैं, इन्द्रियाँ उपशाखाएँ (गुद्दे) हैं, विषय पुष्प हैं और नाना प्रकारके कर्मोंसे उत्पन्न हुआ दुःख फल है तथा जीवरूपी पक्षी ही इनका भोक्ता है ।

अज्ञानमूलोऽयमनात्मबन्धो
नैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरितः ।
जन्माप्ययव्याधिजरादिदुःख-
प्रवाहपातं जनयत्यमुष्य ॥१४८॥

यह अज्ञानजनित अनात्मबन्धन स्वाभाविक तथा अनादि और अनन्त कहा गया है । यही जीवके जन्म, मरण, व्याधि और जरा (वृद्धावस्था) आदि दुःखोंका प्रवाह उत्पन्न कर देता है ।

आत्मानात्मविवेक

नास्त्रैर्न शस्त्रैरनिलेन वह्निना
छेत्तुं न शक्यो न च कर्मकोटिभिः ।
विवेकविज्ञानमहासिना विना
धातुः प्रसादेन सितेन मञ्जुना ॥१४९॥

यह बन्धन विधाताकी विशुद्ध कृपासे प्राप्त हुए विवेक-विज्ञानरूप शुभ्र और मञ्जुल महाखड्गके विना और किसी अस्त्र, शस्त्र, वायु, अग्नि अथवा करोड़ों कर्मकलापोंसे भी नहीं काटा जा सकता ।

श्रुतिप्रमाणैकमतेः स्वधर्म-

निष्ठा तयैवात्मविशुद्धिरस्य ।

विशुद्धबुद्धेः परमात्मवेदनं

तेनैव संसारसमूलनाशः ॥१५०॥

जिसका श्रुतिप्रामाण्यमें दृढ़ निश्चय होता है, उसीकी स्वधर्ममें निष्ठा होती है और उसीसे उसकी चित्तशुद्धि हो जाती है। जिसका चित्त शुद्ध होता है उसीको परमात्माका ज्ञान होता है और इस ज्ञानसे ही संसाररूपी वृक्षका समूल नाश होता है।

कोशैरन्नमयाद्यैः पञ्चभिरात्मा न संवृतो भाति ।

निजशक्तिसमुत्पन्नैः शैवालपटलैरिवाम्बु वापीस्थम् १५१

अन्नमय आदि पाँच कोशोंसे आवृत हुआ आत्मा, अपनी ही शक्तिसे उत्पन्न हुए शैवाल-पटलसे ढके हुए वापीके जलकी भाँति नहीं भासता।

तच्छैवालापनये सम्यक् सलिलं प्रतीयते शुद्धम् ।

तृष्णासन्तापहरं सद्यः सौख्यप्रदं परं पुंसः ॥१५२॥

पञ्चानामपि कोशानामपवादे विभात्ययं शुद्धः ।

नित्यानन्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परः स्वयंज्योतिः ॥१५३॥

जिस प्रकार उस शैवाल (सेवार) के पूर्णतया दूर हो जानेपर मनुष्योंके तृषारूपी तापको दूर करनेवाला तथा उन्हें तत्काल ही परम सुख प्रदान करनेवाला जल स्पष्ट प्रतीत होने लगता है उसी प्रकार पाँचों कोशोंका अपवाद करनेपर यह शुद्ध, नित्यानन्दैकरसस्वरूप, अन्तर्यामी, स्वयंप्रकाश परमात्मा भासने लगता है।

आत्मानात्मविवेकः कर्तव्यो बन्धमुक्तये विदुषा ।
तेनैवानन्दी भवति स्वं विज्ञाय सच्चिदानन्दम् ॥१५४॥

बन्धनकी निवृत्तिके लिये विद्वान्‌को आत्मा और अनात्माका विवेक करना चाहिये । उसीसे अपने आपको सच्चिदानन्दरूप जानकर वह आनन्दित हो जाता है ।

मुञ्जादिषीकामिव दृश्यवर्गा-
त्प्रत्यञ्चमात्मानमसङ्गमक्रियम् ।
विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं
तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ॥१५५॥

जो पुरुष अपने असंग और अक्रिय प्रत्यगात्माको मूँजमेंसे सींकके समान दृश्यवर्गसे पृथक् करके तथा सबका उसीमें लय करके आत्मभावमें ही स्थित रहता है, वही मुक्त है ।

अन्नमय कोश

देहोऽयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोश-
श्चान्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः ।
त्वक्चर्ममांसरुधिरास्थिपुरीषराशि-
र्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यशुद्धः ॥१५६॥

अन्नसे उत्पन्न हुआ यह देह ही अन्नमय कोश है, जो अन्नसे ही जीता है और उसके बिना नष्ट हो जाता है । यह त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, अस्थि और मल आदिका समूह स्वयं नित्यशुद्ध आत्मा नहीं हो सकता ।

पूर्वं जनेरपि मृतेरपि नायमस्ति
जातः क्षणं क्षणगुणोऽनियतस्वभावः ।
नैको जडश्च घटवत्परिदृश्यमानः
स्वात्मा कथं भवति भावविकारवेत्ता ॥१५७॥

यह जन्मसे पूर्व और मृत्युके पश्चात् भी नहीं रहता, क्षणमें जन्म लेता है, क्षणिक गुणवाला है और अस्थिरस्वभाव है; तथा अनेक तत्त्वोंका संघात, जड और घटके समान दृश्य है, फिर यह भाव-विकारोंका जाननेवाला अपना आत्मा कैसे हो सकता है ?

पाणिपादादिमान्देहो नात्मा व्यङ्गेऽपि जीवनात् ।
तत्तच्छक्तेरनाशाच्च न नियम्यो नियामकः ॥१५८॥

यह हाथ-पैरोंवाला शरीर आत्मा नहीं हो सकता; क्योंकि उसके अंग-भंग होनेपर भी अपनी शक्तिका नाश न होनेके कारण पुरुष जीवित रहता है । इसके सिवा जो शरीर स्वयं शासित है, वह शासक आत्मा कभी नहीं हो सकता ।

देहतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थादिसाक्षिणः ।
स्वत एव स्वतः सिद्धं तद्वैलक्षण्यमात्मनः ॥१५९॥

देह, उसके धर्म, उसके कर्म तथा उसकी अवस्थाओंके साक्षी आत्माकी उससे पृथक्ता स्वयं ही स्वतः सिद्ध है ।

कुल्यराशिर्मांसलिप्तो मलपूर्णोऽतिकश्मलः ।
कथं भवेदयं वेत्ता स्वयमेतद्विलक्षणः ॥१६०॥

हड्डियोंका समूह, मांससे लिथड़ा हुआ और मलसे भरा हुआ यह अति कुत्सित देह, अपनेसे भिन्न अपना जाननेवाला स्वयं ही कैसे हो सकता है ?

त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशा-
वहंमतिं मूढजनः करोति ।
विलक्षणं वेत्ति विचारशीलो
निजस्वरूपं परमार्थभूतम् ॥१६१॥

त्वचा, मांस, मेद, अस्थि और मलकी राशिरूप इस देहमें मूढजन ही अहंबुद्धि करते हैं । विचारशील तो अपने पारमार्थिक स्वरूपको इससे पृथक् ही जानते हैं ।

देहोऽहमित्येव जडस्य बुद्धि-
र्देहे च जीवे विदुषस्त्वहंधीः ।
विवेकविज्ञानवतो महात्मनो
ब्रह्माहमित्येव मतिः सदात्मनि ॥१६२॥

जड पुरुषोंकी 'मैं देह हूँ'—ऐसी देहमें अहंबुद्धि होती है, विद्वान् (शास्त्रज्ञ) की जीवमें और विवेक-विज्ञानयुक्त महात्माकी 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी सत्य आत्मामें ही अहंबुद्धि होती है ।

अत्रात्मबुद्धिं त्यज मूढबुद्धे
त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशौ ।
सर्वात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे
कुरुष्व शान्तिं परमां भजस्व ॥१६३॥

अरे मूर्ख ! इस त्वचा, मांस, मेद, अस्थि और मलादिके समूहमें आत्मबुद्धि छोड़ और सर्वात्मा निर्विकल्प ब्रह्ममें ही आत्म-भाव करके परम शान्तिका भोग कर ।

देहेन्द्रियादावसति भ्रमोदितां
विद्वानहन्तां न जहाति यावत् ।
तावन्न तस्यास्ति विमुक्तिवार्ता-
प्यस्त्वेष वेदान्तनयान्तदर्शी ॥१६४॥

जबतक विद्वान् असत् देह और इन्द्रिय आदिमें भ्रमसे उत्पन्न हुई अहंताको नहीं त्यागता, तबतक वह वेदान्त-सिद्धान्तोंका पारदर्शी क्यों न हो, उसके मोक्षकी कोई बात ही नहीं है ।

छायाशरीरे प्रतिविम्बगात्रे
यत्स्वप्नदेहे हृदि कल्पिताङ्गे ।
यथात्मबुद्धिस्तव नास्ति काचि-
ज्जीवच्छरीरे च तथैव मास्तु ॥१६५॥

छाया, प्रतिविम्ब, स्वप्न और मनमें कल्पित किये हुए शरीरोंमें जिस प्रकार तेरी कभी आत्मबुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार जीवित शरीरमें भी कभी न होनी चाहिये ।

देहात्मधीरेव नृणामसिद्ध्यां
जन्मादिदुःखप्रभवस्य बीजम् ।
यतस्ततस्त्वं जहि तां प्रयत्ना-
त्त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवाशा ॥१६६॥

क्योंकि देहात्म-बुद्धि ही असद्बुद्धि मनुष्योंके जन्मादि दुःखोंकी उत्पत्तिकी कारण है, अतः उसे तू प्रयत्नपूर्वक छोड़ दे, उस बुद्धिके छूट जानेपर फिर पुनर्जन्मकी कोई आशंका न रहेगी ।

प्राणमय कोश

कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितोऽयं
प्राणो भवेत्प्राणमयस्तु कोशः ।
येनात्मवानन्नमयोऽन्नपूर्णः
प्रवर्ततेऽसौ सकलक्रियासु ॥१६७॥

पाँच कर्मेन्द्रियोंसे युक्त यह प्राण ही प्राणमय कोश कहलाता है, जिससे युक्त यह अन्नमय कोश अन्नसे तृप्त होकर समस्त कर्मोंमें प्रवृत्त होता है ।

नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो
गन्तागन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः ।
यस्मात्किञ्चित्क्वापि न वेत्तीष्टमनिष्टं
स्वं वान्यं वा किञ्चन नित्यं परतन्त्रः ॥१६८॥

प्राणमय कोश भी आत्मा नहीं है, क्योंकि यह वायुका विकार है, वायुके समान ही बाहर-भीतर जाने-आनेवाला है और नित्य परतन्त्र है । यह कभी अपना इष्ट-अनिष्ट, अपना-पराया भी कुछ नहीं जानता ।

मनोमय कोश

ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्या-
त्कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः ।
संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयां-
स्तत्पूर्वकोशमभिपूर्य विजृम्भते यः ॥१६९॥

ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ही 'मैं' 'मेरा' आदि विकल्पोंका हेतु मनोमय कोश है, जो नामादि भेद-कलनाओंसे जाना जाता है और बड़ा बलवान् है तथा पूर्व-कोशोंको व्याप्त करके स्थित है।

पञ्चेन्द्रियैः पञ्चभिरेव होतृभिः
प्रचीयमानो विषयाज्यधारया ।
जाज्वल्यमानो बहुवासनेन्धनै-
र्मनोमयाग्निर्दहति प्रपञ्चम् ॥१७०॥

पञ्चेन्द्रियरूप पाँच होताओंद्वारा विषयरूपी घृतकी आहुतियोंसे बढ़ाया हुआ तथा नाना प्रकारकी वासनारूप ईंधनसे प्रज्वलित हुआ यह मनोमय अग्नि (यज्ञ) सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चको दग्ध कर देता है। [अर्थात् जिस समय इन्द्रियाँ वासनारूपी ईंधनको जलाकर प्रकट किये मनोमय अग्निमें विषयोंको हवन कर देती हैं उस समय यह सम्पूर्ण प्रपञ्च लीन हो जाता है]।

न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता
मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः ।
तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं
विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते ॥१७१॥

मनसे अतिरिक्त अविद्या और कुछ नहीं है, मन ही भव-बन्धनकी हेतुभूता अविद्या है। उसके नष्ट होनेपर सब नष्ट हो जाता है और उसीके जाग्रत् होनेपर सब कुछ प्रतीत होने लगता है।

स्वप्नेऽर्थशून्ये सृजति स्वशक्त्या
भोक्त्रादि विश्वं मन एव सर्वम् ।
तथैव जाग्रत्यपि नो विशेष-
स्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ॥१७२॥

जिसमें कोई पदार्थ नहीं होता उस स्वप्नमें मन ही अपनी शक्तिसे सम्पूर्ण भोक्ता-भोग्यादि प्रपञ्च रचता है, उसी प्रकार जागृतिमें भी और कोई विशेषता नहीं है, अतः यह सब मनका विलासमात्र ही है ।

सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने
नैवास्ति किञ्चित्सकलप्रसिद्धेः ।
अतो मनःकल्पित एव पुंसः
संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति ॥१७३॥

सुषुप्ति-कालमें मनके लीन हो जानेपर कुछ भी नहीं रहता—यह बात सबको विदित ही है । अतः इस पुरुष (जीव) का यह संसार मनकी कल्पनामात्र ही है, वस्तुतः नहीं ।

वायुनानीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते ।
मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते ॥१७४॥

मेघ वायुके द्वारा आता है और फिर उसीके द्वारा चला जाता है, इसी प्रकार मनसे ही बन्धनकी कल्पना होती है और उसीसे मोक्षकी ।

देहादिसर्वविषये परिकल्प्य रागं
बध्नाति तेन पुरुषं पशुवद्गुणेन ।

वैरस्यमत्र विषवत्सु विधाय पश्चा-
देनं विमोचयति तन्मन एव बन्धात् ॥१७५॥

यह मन ही देह आदि सब विषयोंमें रागकी कल्पना करके उसके द्वारा रस्सीसे पशुकी भाँति पुरुषको बाँधता है और फिर इन विषवत् विषयोंमें विरसता उत्पन्न करके इसको बन्धनसे मुक्त कर देता है।

तस्मान्मनः कारणमस्य जन्तो-
र्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने।
बन्धस्य हेतुर्मलिनं रजोगुणै-
र्मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम् ॥१७६॥

इसलिये इस जीवके बन्धन और मोक्षके विधानमें मन ही कारण है, रजोगुणसे मलिन हुआ यह बन्धनका हेतु होता है तथा रज-तमसे रहित शुद्ध सात्त्विक होनेपर मोक्षका कारण होता है।

विवेकवैराग्यगुणातिरेका-
च्छुद्धत्वमासाद्य मनो विमुक्त्यै।
भवत्यतो बुद्धिमतो मुमुक्षो-
स्ताभ्यां दृढाभ्यां भवितव्यमग्रे ॥१७७॥

विवेक-वैराग्यादि गुणोंके उत्कर्षसे शुद्धताको प्राप्त हुआ मन मुक्तिका हेतु होता है, अतः पहले बुद्धिमान् मुमुक्षुके वे (ज्ञान-वैराग्य) दोनों ही दृढ़ होने चाहिये।

मनो नाम महाव्याघ्रो विषयारण्यभूमिषु।
चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः ॥१७८॥

मन नामका भयङ्कर व्याघ्र विषयरूप वनमें घूमता-फिरता है। जो साधु मुमुक्षु हैं, वे वहाँ न जायँ।

मनः प्रसूते विषयानशेषा-
न्स्थूलात्मना सूक्ष्मतया च भोक्तुः।
शरीरवर्णाश्रमजातिभेदान्
गुणक्रियाहेतुफलानि नित्यम् ॥१७९॥

मन ही सम्पूर्ण स्थूल-सूक्ष्म विषयोंको, शरीर, वर्ण, आश्रम, जाति आदि भेदोंको तथा गुण, क्रिया, हेतु और फलादिको भोक्ताके लिये नित्य उत्पन्न करता रहता है।

असङ्गचिद्रूपममुं विमोह्य
देहेन्द्रियप्राणगुणैर्निबध्य।
अहंममेति भ्रमयत्यजस्रं
मनः स्वकृत्येषु फलोपभुक्तिषु ॥१८०॥

इस असङ्ग चिद्रूप आत्माको मोहित करके तथा इसे देह, इन्द्रिय, प्राणादि गुणोंसे बाँधकर, यह मन ही इसको 'मैं-मेरा' भावसे अपने कर्म और उनके फलोपभोगमें निरन्तर भटकाता है।

अध्यासदोषात्पुरुषस्य संसृति-
रध्यासबन्धस्त्वमुनैव कल्पितः।
रजस्तमोदोषवतोऽविवेकिनो
जन्मादिदुःखस्य निदानमेतत् ॥१८१॥

अध्यास-दोषसे ही पुरुषको जन्म-मरणरूप संसार होता है और यह अध्यासका बन्धन इसीका कल्पित किया हुआ है

तथा रज-तम आदि दोषयुक्त अविवेकी पुरुषके लिये यह (अध्यास) ही जन्मादि दुःखका मूल कारण है ।

अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।
येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम् ॥१८२॥

अतः तत्त्वदर्शी विद्वान् मनको ही अविद्या कहते हैं; जिसके द्वारा वायुसे मेघ-मण्डलकी भाँति यह सम्पूर्ण विश्व भ्रमाया जा रहा है ।

तन्मनःशोधनं कार्यं प्रयत्नेन मुमुक्षुणा ।
विशुद्धे सति चैतस्मिन्मुक्तिः करफलायते ॥१८३॥

उस मनका मुमुक्षुको प्रयत्नपूर्वक शोधन करना चाहिये, उसके शुद्ध हो जानेपर मुक्ति करामलकवत् हो जाती है ।

मोक्षैकसक्त्या विषयेषु रागं
निर्मूल्य संन्यस्य च सर्वकर्म ।
सच्छ्रद्धया यः श्रवणादिनिष्ठो
रजःस्वभावं स धुनोति बुद्धेः ॥१८४॥

मोक्षकी आसक्तिसे जो विषयोंमें रागका निर्मूलन करके तथा सर्वकर्मोंको त्यागकर, शुद्ध श्रद्धासे युक्त हुआ श्रवणादिमें तत्पर रहता है, वह बुद्धिके रजोमय (चञ्चल) स्वभावको नष्ट कर देता है ।

मनोमयो नापि भवेत्परात्मा
ह्याद्यन्तवत्त्वात्परिणामिभावात् ।
दुःखात्मकत्वाद्विषयत्वहेतो-
र्द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्टः ॥१८५॥

मनोमय कोश भी आद्यन्तवान्, परिणामी, दुःखात्मक और विषयरूप होनेके कारण परात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि द्रष्टा कभी दृश्यरूप नहीं देखा गया।

विज्ञानमय कोश

बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः।
विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम् ॥१८६॥

ज्ञानेन्द्रियोंके साथ वृत्तियुक्त बुद्धि ही कर्तापनके स्वभाववाला विज्ञानमय कोश है, जो पुरुषके [जन्म-मरणरूप] संसारका कारण है।

अनुव्रजच्चित्प्रतिविम्बशक्ति-
विज्ञानसंज्ञः प्रकृतेर्विकारः।
ज्ञानक्रियावानहमित्यजस्रं
देहेन्द्रियादिष्वभिमन्यते भृशम् ॥१८७॥

चित्त और इन्द्रियादिका अनुगमन करनेवाली चेतनकी प्रतिविम्बशक्ति ही 'विज्ञान' नामक प्रकृतिका विकार है। वह 'मैं ज्ञान और क्रियावान् हूँ' ऐसा देह-इन्द्रिय आदिमें निरन्तर अभिमान किया करता है।

अनादिकालोऽयमहंस्वभावो
जीवः समस्तव्यवहारवोढा।
करोति कर्माण्यपि पूर्ववासनः
पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि ॥१८८॥
भुङ्क्ते विचित्रास्वपि योनिषु व्रज-
न्नायाति निर्यात्यध ऊर्ध्वमेषः।

अस्यैव विज्ञानमयस्य जाग्रत्-
स्वप्नाद्यवस्था सुखदुःखभोगः ॥१८९॥
देहादिनिष्ठाश्रमधर्मकर्म-
गुणाभिमानं सततं ममेति ।
विज्ञानकोशोऽयमतिप्रकाशः
प्रकृष्टसान्निध्यवशात्परात्मनः ।
अतो भवत्येष उपाधिरस्य
यदात्मधीः संसरति भ्रमेण ॥१९०॥

यह अहंस्वभाववाला विज्ञानमय कोश ही अनादिकालीन जीव और संसारके समस्त व्यवहारोंका निर्वाह करनेवाला है। यह अपनी पूर्व-वासनासे पुण्य-पापमय अनेकों कर्म करता और उनके फल भोगता है। तथा विचित्र योनियोंमें भ्रमण करता हुआ कभी नीचे आता और कभी ऊपर जाता है। जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाएँ, सुख-दुःख आदि भोग, देहादिमें आत्माभिमान, आश्रमादिके धर्म-कर्म तथा गुणोंका अभिमान और ममता आदि सर्वदा इस विज्ञानमय कोशमें ही रहते हैं। यह आत्माकी अति निकटताके कारण अत्यन्त प्रकाशमय है; अतः यह इसकी उपाधि है, जिसमें भ्रमसे आत्मबुद्धि करके यह जन्म-मरणरूप संसारचक्रमें पड़ता है।

आत्माकी उपाधिसे असङ्गता

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि स्फुरत्स्वयंज्योतिः ।
कूटस्थः सन्नात्मा कर्ता भोक्ता भवत्युपाधिस्थः ॥१९१॥

यह जो स्वयंप्रकाश विज्ञानस्वरूप हृदयके भीतर प्राणादिमें स्फुरित हो रहा है, वह कूटस्थ (निर्विकार) आत्मा होनेपर भी उपाधिवश कर्ता-भोक्ता हो जाता है।

स्वयं परिच्छेदमुपेत्य बुद्धे-
स्तादात्म्यदोषेण परं मृषात्मनः।
सर्वात्मकः सन्नपि वीक्षते स्वयं
स्वतः पृथक्त्वेन मृदो घटानिव ॥१९२॥

वह परात्मा मिथ्या-बुद्धिसे परिच्छिन्न होकर उससे एकीभूत हो जानेके दोषसे स्वयं सर्वात्मक होते हुए भी मिट्टीसे घड़ेके समान अपनेको अपनेहीसे पृथक् देखता है।

उपाधिसम्बन्धवशात्परात्मा
ह्युपाधिधर्माननु भाति तद्गुणः।
अयोविकारानविकारिवह्निव-
त्सदैकरूपोऽपि परः स्वभावात् ॥१९३॥

वह परात्मा स्वरूपसे तो सदा एकरूप ही है तथापि उपाधिके सम्बन्धसे उसके गुणोंसे युक्त-सा होकर उसीके धर्मोंके साथ प्रकाशित होने लगता है, जिस प्रकार लोहेके विकारोंमें व्याप्त हुआ अविकारी अग्नि उन्हींके समान प्रकाशित होता है।

मुक्ति कैसे होगी ?

शिष्य उवाच

भ्रमेणाप्यन्यथा वास्तु जीवभावः परात्मनः।
तदुपाधेरनादित्वान्नानादेर्नाश इष्यते ॥१९४॥

शिष्य—हे गुरुदेव ! भ्रमसे हो अथवा किसी अन्य कारणसे, परमात्माको ही जीव-भावकी प्राप्ति हुई है; और उसकी उपाधि अनादि है तथा अनादि वस्तुका नाश हो नहीं सकता ।

अतोऽस्य जीवभावोऽपि नित्यो भवति संसृतिः ।
न निवर्तेत तन्मोक्षः कथं मे श्रीगुरो वद ॥१९५॥

इसलिये इस आत्माका जीवभाव भी नित्य है और ऐसा होनेसे इसका जन्म-मरणरूप संसार-चक्र कभी निवृत्त नहीं हो सकता; तो फिर, हे श्रीगुरुदेव ! इसका मोक्ष कैसे होगा, सो कहिये ?

आत्मज्ञान ही मुक्तिका उपाय है

श्रीगुरुरुवाच

सम्यक्पृष्टं त्वया विद्वन्सावधानेन तच्छृणु ।
प्रामाणिकी न भवति भ्रान्त्या मोहितकल्पना ॥१९६॥

गुरु—हे वत्स ! तू बड़ा बुद्धिमान् है, तूने बहुत ठीक बात पूछी है । अच्छा, अब सावधान होकर सुन । देख, मोहयुक्त पुरुषोंकी भ्रमवश की हुई कल्पना माननीय नहीं हुआ करती ।

भ्रान्तिं विना त्वसङ्गस्य निष्क्रियस्य निराकृतेः ।
न घटेतार्थसम्बन्धो नभसो नीलतादिवत् ॥१९७॥

जो असङ्ग, निष्क्रिय और निराकार है, उस आत्माका पदार्थोंसे, नीलता आदिसे आकाशके समान भ्रमके अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं हो सकता ।

स्वस्य द्रष्टुर्निर्गुणस्याक्रियस्य
प्रत्यग्बोधानन्दरूपस्य बुद्धेः ।
भ्रान्त्या प्राप्तो जीवभावो न सत्यो
मोहापाये नास्त्यवस्तुस्वभावात् ॥१९८॥

साक्षी, निर्गुण, अक्रिय और प्रत्यग्ज्ञानानन्दस्वरूप उस आत्मामें बुद्धिके भ्रमसे ही जीव-भावकी प्राप्ति हुई है, वह वास्तविक नहीं है; क्योंकि वह अवस्तुरूप होनेसे, मोह दूर हो जानेपर स्वभावसे ही नहीं रहता ।

यावद् भ्रान्तिस्तावदेवास्य सत्ता
मिथ्याज्ञानोज्जृम्भितस्य प्रमादात् ।
रज्ज्वां सर्पो भ्रान्तिकालीन एव
भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपि तद्वत् ॥१९९॥

जैसे भ्रमकी स्थितिपर्यन्त ही रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है, भ्रमके नाश होनेपर फिर सर्प प्रतीत नहीं होता, वैसे ही जबतक भ्रम है, तभीतक प्रमादवश मिथ्या ज्ञानसे प्रकट हुए इस (जीव-भाव) की सत्ता है ।

अनादित्वमविद्यायाः कार्यस्यापि तथेष्यते ।
उत्पन्नायां तु विद्यायामाविद्यकमनाद्यपि ॥२००॥
प्रबोधे स्वप्नवत्सर्वं सहमूलं विनश्यति ।

लोकमें अविद्या और उसके कार्य जीव-भावका अनादित्व माना जाता है । किन्तु जग पड़नेपर जैसे सम्पूर्ण स्वप्न-प्रपञ्च

अपने मूलसहित नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानोदय होनेपर अविद्याजनित जीव-भावका नाश हो जाता है ।

अनाद्यपीदं नो नित्यं प्रागभाव इव स्फुटम् ॥२०१॥
अनादेरपि विध्वंसः प्रागभावस्य वीक्षितः ।

यह जीव-भाव अनादि होनेपर भी प्रागभावके समान नित्य नहीं है, क्योंकि अनादि प्रागभावका भी ध्वंस होना देखा ही गया है ।

यद्बुद्ध्युपाधिसम्बन्धात्परिकल्पितमात्मनि ॥२०२॥
जीवत्वं न ततोऽन्यत्तु स्वरूपेण विलक्षणम् ।
सम्बन्धः स्वात्मनो बुद्ध्या मिथ्याज्ञानपुरःसरः ॥२०३॥
विनिवृत्तिर्भवेत्तस्य सम्यग्ज्ञानेन नान्यथा ।
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्यग्ज्ञानं श्रुतेर्मतम् ॥२०४॥

अतः जिस जीवत्वकी बुद्धिरूप उपाधिके सम्बन्धसे ही आत्मामें कल्पना हुई है, वह स्वरूपसे उस (आत्मा) से पृथक् नहीं हो सकता । बुद्धिके साथ यह आत्माका सम्बन्ध मिथ्या ज्ञानके ही कारण है । इसकी निवृत्ति ठीक-ठीक ज्ञान हो जानेसे ही हो सकती है, और किसी प्रकार नहीं; तथा ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है —ऐसा श्रुतिका सिद्धान्त है [अतः ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान हो जानेसे जीव-भावकी निवृत्ति हो जाती है] ।

तदात्मानात्मनोः सम्यग्विवेकेनैव सिध्यति ।
ततो विवेकः कर्तव्यः प्रत्यगात्मासदात्मनोः ॥२०५॥

उस ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानकी सिद्धि आत्मा और अनात्माका भली प्रकार विवेक (पार्थक्य-ज्ञान) हो जानेसे ही होती है। इसलिये प्रत्यगात्मा और मिथ्यात्माका भली प्रकार विवेचन करना चाहिये ।

जलं पङ्कवदत्यन्तं पङ्कापाये जलं स्फुटम् ।
यथा भाति तथात्मापि दोषाभावे स्फुटप्रभः ॥२०६॥

अत्यन्त गँदला जल भी जिस प्रकार कीचड़के बैठ जानेपर स्वच्छ जलमात्र रह जाता है उसी प्रकार दोषसे रहित हो जानेपर आत्मा भी स्पष्टतया प्रकाशित होने लगता है।

असन्निवृत्तौ तु सदात्मना स्फुटं
प्रतीतिरेतस्य भवेत्प्रतीचः ।
ततो निरासः करणीय एवा-
सदात्मनः साध्वहमादिवस्तुनः ॥२०७॥

सत्य आत्माके विचारसे असत्की निवृत्ति होनेपर इस प्रत्यक् (आन्तरिक) आत्माकी स्पष्ट प्रतीति होने लगती है । अतः अहंकार आदि असदात्माओंका भली प्रकार बाध करना ही चाहिये ।

अतो नायं परात्मा स्याद्विज्ञानमयशब्दभाक् ।
विकारित्वाज्जडत्वाच्च परिच्छिन्नत्वहेतुतः ।
दृश्यत्वाद्व्यभिचारित्वान्नानित्यो नित्य इष्यते ॥२०८॥

अतएव विज्ञानमय शब्दसे कहा जानेवाला यह विज्ञानमय कोश भी विकारी, जड, परिच्छिन्न तथा दृश्य और व्यभिचारी होनेके कारण परमात्मा नहीं हो सकता; [क्योंकि यह अनित्य है] और अनित्य वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती ।

आनन्दमय कोश

आनन्दप्रतिबिम्बचुम्बिततनुर्वृत्तिस्तमोजृम्भिता
स्यादानन्दमयःप्रियादिगुणकः स्वेष्टार्थलाभोदयः ।
पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतिनामानन्दरूपः स्वयं
भूत्वा नन्दति यत्र साधु तनुभृन्मात्रः प्रयत्नं विना ॥२०९॥

आनन्दस्वरूप आत्माके प्रतिबिम्बसे चुम्बित तथा तमोगुणसे प्रकट हुई वृत्ति आनन्दमय कोश है । वह प्रिय आदि (प्रिय, मोद और प्रमोद—इन तीन) गुणोंसे युक्त है और अपने अभीष्ट पदार्थके प्राप्त होनेपर प्रकट होती है । पुण्यकर्मके परिपाक होनेपर उसके फलरूप सुखका अनुभव करते समय भाग्यवान् पुरुषोंको उस आनन्दमय कोशका स्वयं ही भान होता है, जिससे सम्पूर्ण देहधारी जीव बिना प्रयत्नके ही अति आनन्दित होते हैं ।

आनन्दमयकोशस्य सुषुप्तौ स्फूर्तिरुत्कटा ।
स्वप्नजागरयोरीषदिष्टसंदर्शनादिना ॥२१०॥

आनन्दमय कोशकी उत्कट (तीव्र) प्रतीति तो सुषुप्तिमें ही होती है, तथा जाग्रत् और स्वप्नमें भी इष्टवस्तुके दर्शन आदिसे उसका यत्किञ्चित् भान होता है ।

नैवायमानन्दमयः परात्मा
सोपाधिकत्वात्प्रकृतेर्विकारात् ।
कार्यत्वहेतोः सुकृतक्रियाया
विकारसङ्घातसमाहितत्वात् ॥२११॥

यह आनन्दमय कोश भी परात्मा नहीं है, क्योंकि यह उपाधियुक्त है, प्रकृतिका विकार है, शुभकर्मोंका कार्य है और प्रकृतिके विकारोंके समूह (स्थूल शरीर) के आश्रित है ।

पञ्चानामपि कोशानां निषेधे युक्तितः श्रुतेः ।
तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते ॥२१२॥

श्रुतिके अनुकूल युक्तियोंसे पाँचों कोशोंका निषेध कर देनेपर उनके निषेधकी अवधिरूप बोधस्वरूप साक्षी आत्मा बच रहता है ।

योऽयमात्मा स्वयंज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्निर्विकारो निरञ्जनः ।
सदानन्दः स विज्ञेयः स्वात्मत्वेन विपश्चिता ॥२१३॥

इस प्रकार जो आत्मा स्वयंप्रकाश, अन्नमयादि पाँचों कोशोंसे पृथक् तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंका साक्षी होकर भी निर्विकार, निर्मल और नित्यानन्दस्वरूप है उसे ही विद्वान् पुरुषको अपना वास्तविक आत्मा समझना चाहिये ।

आत्मस्वरूपविषयक प्रश्न

शिष्य उवाच

मिथ्यात्वेन निषिद्धेषु कोशेष्वेतेषु पञ्चसु ।
सर्वाभावं विना किञ्चिन्न पश्याम्यत्र हे गुरो ।
विज्ञेयं किमु वस्त्वस्ति स्वात्मनात्र विपश्चिता ॥२१४॥

शिष्य—हे गुरो ! इन पाँचों कोशोंके मिथ्यारूपसे निषिद्ध हो जानेपर तो मुझे सर्वाभाव (शून्य) के अतिरिक्त और कुछ भी प्रतीत नहीं होना, फिर [आपके कथनानुसार] बुद्धिमान् पुरुष किस वस्तुको अपना आत्मा माने ?

आत्मस्वरूपनिरूपण

श्रीगुरुरुवाच

सत्यमुक्तं त्वया विद्वन्निपुणोऽसि विचारणे ।
अहमादिविकारास्ते तदभावोऽयमप्यनु ॥२१५॥

गुरु-हे विद्वन् ! तू बहुत ठीक कहता है; विचार करनेमें तू बहुत कुशल है । अरे ! जैसे अहंकार आदि तेरे विकार हैं वैसे ही उनका अभाव भी है ।

सर्वे येनानुभूयन्ते यः स्वयं नानुभूयते ।
तमात्मानं वेदितारं विद्धि बुद्ध्या सुसूक्ष्मया ॥२१६॥

ये सब जिसके द्वारा अनुभव किये जाते हैं और जो स्वयं अनुभव नहीं किया जा सकता, अपनी सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा उस सबके साक्षीको ही तू अपना आत्मा जान ।

तत्साक्षिकं भवेत्तत्तद्यद्यद्येनानुभूयते ।
कस्याप्यननुभूतार्थे साक्षित्वं नोपयुज्यते ॥२१७॥

जिस-जिसके द्वारा जो-जो अनुभव किया जाता है वह सब उसीके साक्षित्वमें कहा जाता है; बिना अनुभव किये पदार्थमें किसीका भी साक्षी होना नहीं माना जाता ।

असौ स्वसाक्षिको भावो यतः स्वेनानुभूयते ।
अतः परं स्वयं साक्षात्प्रत्यगात्मा न चेतरः ॥२१८॥

अपना तो यह आत्मा स्वयं ही साक्षी है, क्योंकि यह स्वयं अपने-आपसे ही अनुभव किया जाता है । इसलिये इससे परे कोई और अपना साक्षात् अन्तरात्मा नहीं है ।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरं योऽसौ समुज्जृम्भते
प्रत्यग्रूपतया सदाहमहमित्यन्तःस्फुरन्नैकधा ।
नानाकारविकारभागिन इमान्पश्यन्नहंधीमुखान्
नित्यानन्दचिदात्मना स्फुरति तं विद्धि स्वमेतं हृदि ॥२१९॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें जो अन्तः-करणके भीतर सदा अहं-अहं (मैं-मैं) रूपसे अनेक प्रकार स्फुरित होता हुआ प्रत्यग्रूपसे स्पष्टतया प्रकाशित होता है और अहंकारसे लेकर प्रकृतिके इन नाना विकारोंको साक्षीरूपसे देखता हुआ नित्य चिदानन्दरूपसे स्फुरित होता है, उसीको तू अपने अन्तः-करणमें विराजमान अपना आप समझ ।

घटोदके विम्बितमर्कविम्ब-
मालोक्य मूढो रविमेव मन्यते ।
तथा चिदाभासमुपाधिसंस्थं
भ्रान्त्याहमित्येव जडोऽभिमन्यते ॥२२०॥

जिस प्रकार मूढ़ पुरुष घड़ेके जलमें प्रतिविम्बित सूर्यविम्बको देखकर उसे सूर्य ही समझता है, उसी प्रकार उपाधिमें स्थित चिदाभासको अज्ञानी पुरुष भ्रमसे अपना-आप ही मान बैठता है ।

घटं जलं तद्गतमर्कबिम्बं
विहाय सर्वं विनिरीक्ष्यतेऽर्कः ।
तटस्थ एतत्त्रितयावभासकः
स्वयंप्रकाशो विदुषा यथा तथा ॥२२१॥
देहं धियं चित्प्रतिबिम्बमेतं
विसृज्य बुद्धौ निहितं गुहायाम् ।
द्रष्टारमात्मानमखण्डबोधं
सर्वप्रकाशं सदसद्विलक्षणम् ॥२२२॥
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्म-
मन्तर्बहिःशून्यमनन्यमात्मनः ।
विज्ञाय सम्यङ्निजरूपमेत-
त्पुमान्विपाप्मा विरजो विमृत्युः ॥२२३॥

विद्वान् पुरुष घड़ा, जल और उसमें स्थित सूर्यका प्रतिबिम्ब-- इन सबको छोड़कर जैसे इन तीनोंके प्रकाशक इनसे पृथक् और स्वयंप्रकाशरूप सूर्यको देखता है, उसी प्रकार देह, बुद्धि और चिदाभास---इन तीनोंको छोड़कर बुद्धि-गुहामें स्थित साक्षीरूप इस आत्माको अखण्डबोधस्वरूप, सबके प्रकाशक और सत्-असत् दोनोंसे भिन्न, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, भीतर-बाहरके भेदसे रहित और अपने-आपसे सर्वथा अभिन्न इस (आत्मा) को भलीभाँति अपना निजरूप जानकर पुरुष पापरहित, निर्मल और अमर हो जाता है ।

विशोक आनन्दघनो विपश्चि-
त्स्वयं कुतश्चिन्न बिभेति कश्चित् ।
नान्योऽस्ति पन्था भवबन्धमुक्ते-
र्विना स्वतत्त्वावगमं मुमुक्षोः ॥२२४॥

वह अति बुद्धिमान् पुरुष शोकरहित और आनन्दघनरूप हो जानेसे कभी किसीसे भयभीत नहीं होता । मुमुक्षु पुरुषके लिये आत्मतत्त्वके ज्ञानको छोड़कर संसारबन्धनसे छूटनेका और कोई मार्ग नहीं है ।

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम् ।
येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्म सम्पद्यते बुधैः ॥२२५॥

ब्रह्म और आत्माके अभेदका ज्ञान ही भवबन्धनसे मुक्त होनेका कारण है, जिसके द्वारा बुद्धिमान् पुरुष अद्वितीय आनन्द-स्वरूप ब्रह्मपदको प्राप्त कर लेता है ।

ब्रह्मभूतस्तु संसृत्यै विद्वान्नावर्तते पुनः ।
विज्ञातव्यमतः सम्यग्ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः ॥२२६॥

ब्रह्मभूत हो जानेपर विद्वान् फिर जन्म-मरणरूप संसार-चक्रमें नहीं पड़ता । इसलिये आत्माका ब्रह्मसे अभिन्नत्व भली प्रकार जान लेना चाहिये ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विशुद्धं परं स्वतःसिद्धम् ।
नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति ॥२२७॥

ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है; वह शुद्ध, पर, स्वतः-सिद्ध, नित्य, एकमात्र आनन्दस्वरूप, प्रत्यक् (अन्तरतम) और अभिन्न है तथा निरन्तर उन्नतिशाली है ।

ब्रह्म और जगत्‌की एकता

सदिदं परमाद्वैतं स्वस्मादन्यस्य वस्तुनोऽभावात् ।
न ह्यन्यदस्ति किञ्चित्सम्यक्परमार्थतत्त्वबोधे हि ॥२२८॥

यह परमाद्वैत ही एक सत्य पदार्थ है, क्योंकि इस स्वात्मासे अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं । इस परमार्थ-तत्त्वका पूर्ण बोध हो जानेपर और कुछ भी नहीं रहता ।

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात् ।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्ताशेषभावनादोषम् ॥२२९॥

यह सम्पूर्ण विश्व, जो अज्ञानसे नाना प्रकारका प्रतीत हो रहा है, समस्त भावनाओंके दोषसे रहित [अर्थात् निर्विकल्प] ब्रह्म ही है ।

मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः
कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात् ।
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः
कुतो मृषा कल्पितनाममात्रः ॥२३०॥

मिट्टीका कार्य होनेपर भी घड़ा उससे पृथक् नहीं होता, क्योंकि सब ओरसे मृत्तिकारूप होनेके कारण घड़ेका रूप मृत्तिकासे पृथक् नहीं है, अतः मिट्टीमें मिथ्या ही कल्पित नाममात्र घड़ेकी सत्ता ही कहाँ है ?

केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं
घटस्य संदर्शयितुं न शक्यते ।
अतो घटः कल्पित एव मोहा-
न्मृदेव सत्यं परमार्थभूतम् ॥२३१॥

मिट्टीसे अलग घड़ेका रूप कोई भी नहीं दिखा सकता इसलिये घड़ा तो मोहसे ही कल्पित है; वास्तवमें सत्य तो तत्त्व-स्वरूपा मृत्तिका ही है।

सद्ब्रह्मकार्यं सकलं सदैव
तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति।
अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो
विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः ॥२३२॥

सत्-ब्रह्मका कार्य यह सकल प्रपञ्च सत्स्वरूप ही है, क्योंकि यह सम्पूर्ण वही तो है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। जो कहता है कि [उससे पृथक् भी कुछ] है उसका मोह दूर नहीं हुआ; उसका यह कथन सोये हुए पुरुषके प्रलापके समान है।

ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी
श्रौती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा।
तस्मादेतद् ब्रह्ममात्रं हि विश्वं
नाधिष्ठानाद्भिन्नतारोपितस्य ॥२३३॥

'यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है' ऐसा अति श्रेष्ठ अथर्व-श्रुति कहती है। इसलिये यह विश्व ब्रह्ममात्र ही है, क्योंकि अधिष्ठानसे आरोपित वस्तुकी पृथक् सत्ता हुआ ही नहीं करती।

सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मनो-
ऽनन्तत्वहानिर्निगमाप्रमाणता।
असत्यवादित्वमपीशितुः स्या-
न्नैतत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम् ॥२३४॥

यदि यह जगत् सत्य हो तो आत्माकी अनन्ततामें दोष आता है और श्रुति अप्रामाणिक हो जाती है तथा ईश्वर (भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र) भी मिथ्यावादी ठहरते हैं । ये तीनों ही बातें सत्पुरुषोंके लिये शुभ और हितकर नहीं हैं ।

ईश्वरो वस्तुतत्त्वज्ञो न चाहं तेष्ववस्थितः ।
न च मत्स्थानि भूतानीत्येवमेव व्यचीक्लृपत् ॥२३५॥

परमार्थ-तत्त्वके जाननेवाले भगवान् कृष्णचन्द्रने यह निश्चित किया है कि 'न तो मैं ही भूतोंमें स्थित हूँ और न वे ही मुझमें स्थित हैं ।'

यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम् ।
यन्नोपलभ्यते किञ्चिदतोऽसत्स्वप्नवन्मृषा ॥२३६॥

यदि विश्व सत्य होता तो सुषुप्तिमें भी उसकी प्रतीति होनी चाहिये थी; किन्तु उस समय इसकी कुछ भी प्रतीति नहीं होती; इसलिये यह स्वप्नके समान असत् और मिथ्या है ।

अतः पृथङ्नास्ति जगत्परात्मनः
पृथक्प्रतीतिस्तु मृषा गुणादिवत् ।
आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ता-
धिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण ॥२३७॥

इसलिये परमात्मासे पृथक् जगत् है ही नहीं, उसकी पृथक् प्रतीति तो गुणीसे गुण आदिकी पृथक् प्रतीतिके समान मिथ्या ही है; आरोपित वस्तुकी वास्तविकता ही क्या ? वह तो अधिष्ठान ही भ्रमसे उस प्रकार भास रहा है ।

भ्रान्तस्य यद्यद्भ्रमतः प्रतीतं
ब्रह्मैव तत्तद्रजतं हि शुक्तिः ।
इदंतया ब्रह्म सदैव रूप्यते
त्वारोपितं ब्रह्मणि नाममात्रम् ॥२३८॥

अज्ञानीको अज्ञानवश जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब ब्रह्म ही है, जिस प्रकार भ्रमसे प्रतीत हुई चाँदी वस्तुतः सीपी ही है। [इदं जगत् (यह जगत् है)—इसमें] इदं (यह) रूपसे सदा ब्रह्म ही कहा जाता है, ब्रह्ममें आरोपित [जगत्] तो नाममात्र ही है।

ब्रह्म-निरूपण

अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं
विशुद्धविज्ञानघनं निरञ्जनम् ।
प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं
निरन्तरानन्दरसस्वरूपम् ॥२३९॥

इसलिये परब्रह्म सत्, अद्वितीय, शुद्ध, विज्ञानघन, निर्मल, शान्त, आदि-अन्त-रहित, अक्रिय और सदैव आनन्दरसस्वरूप है।

निरस्तमायाकृतसर्वभेदं
नित्यं सुखं निष्कलमप्रमेयम् ।
अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं
ज्योतिःस्वयं किञ्चिदिदं चकास्ति ॥२४०॥

वह समस्त मायिक भेदोंसे रहित है; नित्य सुखस्वरूप, कलारहित और प्रमाणादिका अविषय है तथा वह कोई अरूप,

अव्यक्त, अनाम और अक्षय तेज है जो स्वयं ही प्रकाशित हो रहा है।

ज्ञातृज्ञेयज्ञानशून्यमनन्तं निर्विकल्पकम् ।
केवलाखण्डचिन्मात्रं परं तत्त्वं विदुर्बुधाः ॥२४१॥

बुधजन उस परम तत्त्वको ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटीसे रहित, अनन्त, निर्विकल्प, केवल और अखण्ड-चैतन्यमात्र जानते हैं।

अहेयमनुपादेयं मनोवाचामगोचरम् ।
अप्रमेयमनाद्यन्तं ब्रह्म पूर्णं महन्महः ॥२४२॥

वह ब्रह्म त्याग अथवा ग्रहणके अयोग्य, मन-वाणीका अविषय, अप्रमेय, आदि-अन्तरहित, परिपूर्ण तथा महान् तेजोमय है।

महावाक्य-विचार

तत्त्वं पदाभ्यामभिधीयमानयो-
ब्रह्मात्मनोः शोधितयोर्यदीत्थम् ।
श्रुत्या तयोस्तत्त्वमसीति सम्य-
गेकत्वमेव प्रतिपाद्यते मुहुः ॥२४३॥

'*तत्त्वमसि*' (छान्दो० ६ ।८) आदि वाक्योंके तत् और त्वं पदोंसे शोधन करके कहे हुए ब्रह्म और आत्माका श्रुतिके द्वारा बारम्बार पूर्ण एकत्व प्रतिपादन किया गया है।

ऐक्यं तयोर्लक्षितयोर्न वाच्ययो-
र्निगद्यतेऽन्योन्यविरुद्धधर्मिणोः ।
खद्योतभान्वोरिव राजभृत्ययोः
कूपाम्बुराश्योः परमाणुमेर्वोः ॥२४४॥

उन सूर्य और खद्योत (जुगनू), राजा और सेवक, समुद्र और कूप तथा सुमेरु और परमाणुके समान परस्पर विरुद्ध धर्मवालोंका एकत्व लक्ष्यार्थमें ही कहा गया है, वाच्यार्थमें नहीं।

तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो
न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः।
ईशस्य माया महदादिकारणं
जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोशम् ॥२४५॥

उन दोनोंका, यह विरोध उपाधिके कारण है और यह उपाधि कुछ वास्तविक नहीं है। ईश्वरकी उपाधि महत्तत्त्वादिकी कारणरूपा माया है तथा जीवकी उपाधि कार्यरूप पञ्चकोश हैं।

एतावुपाधी परजीवयोस्तयोः
सम्यङ्निरासे न परो न जीवः।
राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटक-
स्तयोरपोहे न भटो न राजा ॥२४६॥

ये परमात्मा और जीवकी उपाधियाँ हैं; इनका भली प्रकार बाध हो जानेपर न परमात्मा ही रहता है और न जीवात्मा ही। जिस प्रकार राज्य राजाकी उपाधि है तथा ढाल सैनिककी; इन दोनों उपाधियोंके न रहनेपर न कोई राजा है और न योद्धा।

अथात आदेश इति श्रुतिः स्वयं
निषेधति ब्रह्मणि कल्पितं द्वयम्।
श्रुतिप्रमाणानुगृहीतयुक्त्या
तयोर्निरासः करणीय एव ॥२४७॥

ब्रह्ममें कल्पित द्वैतको '*अथात आदेशो नेति नेति*' (बृह० २ । ३ । ६) इत्यादि श्रुति स्वयं निषेध करती है; इसलिये श्रुति-प्रमाणानुकूल युक्तिसे उपर्युक्त उपाधियोंका बाध करना ही चाहिये ।

नेदं नेदं कल्पितत्वान्न सत्यं
रज्जौ दृष्टव्यालवत्स्वप्नवच्च ।
इत्थं दृश्यं साधुयुक्त्या व्यपोह्य
ज्ञेयः पश्चादेकभावस्तयोर्यः ॥२४८॥

यह दृश्य कल्पित होनेके कारण रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्प और स्वप्नमें भासनेवाले विविध पदार्थोंकी भाँति सत्य नहीं है; ऐसी ही प्रबल युक्तियोंसे दृश्यका निषेध करनेपर पीछे उन (जीव और ईश्वर) का जो एक भाव बच रहता है वही जाननेयोग्य है ।

ततस्तु तौ लक्षणया सुलक्ष्यौ
तयोरखण्डैकरसत्वसिद्धये ।
नालं जहत्या न तथाजहत्या
किन्तूभयार्थात्मिकयैव भाव्यम् ॥२४९॥

जीवात्मा और परमात्माकी अखण्डैकरसताकी सिद्धिके लिये महावाक्यमें लक्षणा करनेसे ही उनका ज्ञान होता है । उनका ठीक-ठीक ज्ञान न तो जहती-लक्षणासे होता है और न अजहतीसे ही; इसलिये इस जगह जहत्यजहती लक्षणाका प्रयोग करना चाहिये ।

स देवदत्तोऽयमितीह चैकता
विरुद्धधर्मांशमपास्य कथ्यते ।
यथा तथा तत्त्वमसीति वाक्ये
विरुद्धधर्मानुभयत्र हित्वा ॥२५०॥

'वह देवदत्त यह है' इस वाक्यमें ['वह' शब्दका परोक्षत्व और 'यह' शब्दका अपरोक्षत्व इन दोनों] विरुद्ध धर्मोंका बाध करके जिस प्रकार देवदत्तकी एकता ही बतलायी जाती है, उसी प्रकार '*तत्त्वमसि*' इस वाक्यमें ['तत्' पदके वाच्य ईश्वरकी उपाधि 'माया' और 'त्वं' पदके वाच्य जीवकी उपाधि अन्तःकरण—इन] दोनोंके विरुद्ध धर्मोंका बाध करके [शुद्ध चैतन्यांशकी] एकता कही जाती है।

संलक्ष्य चिन्मात्रतया सदात्मनो-
रखण्डभावः परिचीयते बुधैः ।
एवं महावाक्यशतेन कथ्यते
ब्रह्मात्मनोरैक्यमखण्डभावः ॥२५१॥

इस प्रकार लक्षणाद्वारा जीवात्मा और परमात्माके चेतनांशकी एकताका निश्चय कर बुद्धिमान् जन उनके अखण्डभावका परिचय (ज्ञान) प्राप्त करते हैं। ऐसे ही सैकड़ों महावाक्योंसे ब्रह्म और आत्माकी अखण्ड एकताका स्पष्ट वर्णन किया गया है।

ब्रह्म-भावना

अस्थूलमित्येतदसन्निरस्य
सिद्धं स्वतो व्योमवदप्रतर्क्यम् ।
यतो मृषामात्रमिदं प्रतीतं
जहीहि यत्स्वात्मतया गृहीतम् ।
ब्रह्माहमित्येव विशुद्धबुद्ध्या
विद्धि स्वमात्मानमखण्डबोधम् ॥२५२॥

'अस्थूलमनण्व ह्रस्वमदीर्घम्' (बृह० ३।८।७) इत्यादि श्रुतिसे असत् स्थूलता आदिका निरास करनेसे आकाशके समान व्यापक अतर्क्य वस्तु स्वयं ही सिद्ध हो जाती है। इसलिये आत्मरूपसे गृहीत ये देह आदि मिथ्या ही प्रतीत होते हैं, इनमें आत्मबुद्धिको छोड़; और 'मैं ब्रह्म हूँ' इस शुद्ध बुद्धिसे अखण्ड बोधस्वरूप अपने आत्माको जान।

मृत्कार्यं सकलं घटादि सततं मृन्मात्रमेवाभित-
स्तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखिलम्।
यस्मान्नास्ति सतः परं किमपि तत्सत्यं स आत्मा स्वयं
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम्।२५३।

जिस प्रकार मृत्तिकाके कार्य घट आदि हर तरहसे मृत्तिका ही हैं उसी प्रकार सत्से उत्पन्न हुआ यह सत्स्वरूप सम्पूर्ण जगत् सन्मात्र ही है; क्योंकि सत्से परे और कुछ भी नहीं है तथा वही सत्य और स्वयम् आत्मा भी है, इसलिये जो शान्त, निर्मल और अद्वितीय परब्रह्म है वह तुम्हीं हो।

निद्राकल्पितदेशकालविषयज्ञात्रादि सर्वं यथा
मिथ्या तद्वदिहापि जाग्रति जगत्स्वाज्ञानकार्यत्वतः।
यस्मादेवमिदं शरीरकरणप्राणाहमाद्यप्यसत्
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम्* २५४

* लक्ष्मीनारायणप्रेस मुरादाबादकी प्रतिमें इसके पश्चात् यह श्लोक और है—

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं तद्विवेके तत्तन्मात्रं नैव तस्माद्विभिन्नम्।
स्वप्ने नष्टे स्वप्नविश्वं विचित्रं स्वस्माद्भिन्नं किन्तु दृष्टं प्रबोधे॥

जिसमें कोई वस्तु भ्रमसे कल्पित होती है विचार होनेपर वह तद्रूप ही प्रतीत होती है, उससे पृथक् नहीं। स्वप्नके नष्ट हो जानेपर जाग्रदवस्थामें क्या विचित्र स्वप्न-प्रपञ्च अपनेसे पृथक् दिखायी देता है?

जिस प्रकार स्वप्नमें निद्रा-दोषसे कल्पित देश, काल, विषय और ज्ञाता आदि सभी मिथ्या होते हैं, उसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी यह जगत्, अपने अज्ञानका कार्य होनेके कारण, मिथ्या ही है। इस प्रकार क्योंकि ये शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण और अहंकार आदि सभी असत्य हैं, अतः तुम वही परब्रह्म हो जो शान्त, निर्मल और अद्वितीय है।

जातिनीतिकुलगोत्रदूरगं
नामरूपगुणदोषवर्जितम् ।
देशकालविषयातिवर्ति यद्
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५५॥

जो जाति, नीति, कुल और गोत्रसे परे है; नाम, रूप गुण और दोषसे रहित है तथा देश, काल और वस्तुसे भी पृथक् है तुम वही ब्रह्म हो—ऐसी अपने अन्तःकरणमें भावना करो।

यत्परं सकलवागगोचरं
गोचरं विमलबोधचक्षुषः ।
शुद्धचिद्घनमनादिवस्तु यद्
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५६॥

जो प्रकृतिसे परे और वाणीका अविषय है, निर्मल ज्ञानचक्षुओं-से जाना जा सकता है तथा शुद्ध चिद्घन अनादि वस्तु है, तुम वही ब्रह्म हो—ऐसी अपने अन्तःकरणमें भावना करो।

षड्भिरूर्मिभिरयोगि योगिहृद्-
भावितं न करणैर्विभावितम् ।
बुद्ध्यवेद्यमनवद्यभूति यद्
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५७॥

क्षुधा-पिपासा आदि छः ऊर्मियोंसे रहित योगिजन जिसका हृदयमें ध्यान करते हैं, जो इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता तथा बुद्धिसे अगम्य और स्तुत्य ऐश्वर्यशाली है तुम वही ब्रह्म हो—ऐसी चित्तमें भावना करो।

भ्रान्तिकल्पितजगत्कलाश्रयं
स्वाश्रयं च सदसद्विलक्षणम्।
निष्कलं निरुपमानमृद्धिमद्
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५८॥

जो इस भ्रान्तिकल्पित जगद्रूप कलाका आधार है, स्वयं अपने ही आश्रय स्थित है, सत् और असत् दोनोंसे भिन्न है तथा जो निरवयव, उपमारहित और परम ऐश्वर्यसम्पन्न है, वह परब्रह्म ही तुम हो——ऐसा चित्तमें चिन्तन करो।

जन्मवृद्धिपरिणत्यपक्षय-
व्याधिनाशनविहीनमव्ययम्।
विश्वसृष्ट्यवनघातकारणं
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२५९॥

जो जन्म, वृद्धि (बढ़ना), परिणति (बदलना), अपक्षय, व्याधि और नाश—शरीरके इन छहों विकारोंसे रहित और अविनाशी है तथा विश्वकी सृष्टि, पालन और विनाशका कारण है वह ब्रह्म ही तुम हो—ऐसी अपने मनमें भावना करो।

अस्तभेदमनपास्तलक्षणं
निस्तरङ्गजलराशिनिश्चलम्।

नित्यमुक्तमविभक्तमूर्ति यद्
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६०॥

जो भेदरहित और अपरिणामिस्वरूप है, तरङ्गहीन जलराशिके समान निश्चल है तथा नित्यमुक्त और विभागरहित है वह ब्रह्म ही तुम हो—ऐसा मनमें विचारो।

एकमेव सदनेककारणं
कारणान्तरनिरासकारणम् ।
कार्यकारणविलक्षणं स्वयं
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६१॥

जो एक होकर भी अनेकोंका कारण तथा अन्य कारणोंके निषेधका कारण है, किंतु जो स्वयं कार्य-कारणभावसे अलग है वह ब्रह्म ही तुम हो—ऐसा मनमें मनन करो।

निर्विकल्पकमनल्पमक्षरं
यत्क्षराक्षरविलक्षणं परम् ।
नित्यमव्ययसुखं निरञ्जनं
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६२॥

जो निर्विकल्प, महान् और अविनाशी है, क्षर (शरीर) और अक्षर (जीव) से भिन्न है तथा नित्य, अव्यय, आनन्द-स्वरूप और निष्कलङ्क है वह ब्रह्म ही तुम हो—ऐसी हृदयमें भावना करो।

यद्विभाति सदनेकधा भ्रमा-
न्नामरूपगुणविक्रियात्मना ।

हेमवत्स्वयमविक्रियं सदा
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६३॥

जो सर्वदा सत् और सुवर्णके समान स्वयं निर्विकार है तथापि भ्रमवश [उसमें विकार कटक-कुण्डलादिके समान] नाना नाम, रूप, गुण और विकारोंके रूपमें भासता है वह ब्रह्म ही तुम हो—–ऐसा अपने चित्तमें चिन्तन करो ।

यच्चकास्त्यनपरं परात्परं
प्रत्यगेकरसमात्मलक्षणम् ।
सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥२६४॥

जो अनपररूपसे [अर्थात् जिससे परे और कोई न हो इस प्रकार] प्रकाशमान है, पर (अव्यक्त प्रकृति) से भी परे है, प्रत्यक्, एकरस और सबका अन्तरात्मा है तथा सच्चिदानन्दस्वरूप, अनन्त और अव्यय है वह ब्रह्म ही तुम हो—–ऐसी अपने अन्तःकरणमें भावना करो ।

उक्तमर्थमिममात्मनि स्वयं
भावय प्रथितयुक्तिभिर्धिया ।
संशयादिरहितं कराम्बुवत्
तेन तत्त्वनिगमो भविष्यति ॥२६५॥

इस पूर्वोक्त विषयको अपनी बुद्धिसे [वेदान्तकी] प्रसिद्ध युक्तियोंद्वारा अपने चित्तमें स्वयं विचारो । इससे हस्तगत जलके समान संशय-विपर्ययसे रहित तत्त्वबोध हो जायगा ।

स्वं बोधमात्रं परिशुद्धतत्त्वं
विज्ञाय सङ्घे नृपवच्च सैन्ये ।
तदात्मनैवात्मनि सर्वदा स्थितो
विलापय ब्रह्मणि दृश्यजातम् ॥२६६॥

सेनाके बीचमें रहनेवाले राजाके समान भूतोंके संघातरूप शरीरके मध्यमें स्थित इस स्वयंप्रकाशरूप विशुद्ध तत्त्वको जानकर सदा तन्मयभावसे स्वरूपमें स्थित रहते हुए सम्पूर्ण दृश्यवर्गको उस ब्रह्ममें ही लीन करो ।

बुद्धौ गुहायां सदसद्विलक्षणं
ब्रह्मास्ति सत्यं परमद्वितीयम् ।
तदात्मना योऽत्र वसेद् गुहायां
पुनर्न तस्याङ्गगुहाप्रवेशः ॥२६७॥

वह सत्-असत्से विलक्षण अद्वितीय सत्य परब्रह्म बुद्धिरूप गुहामें विराजमान है । जो इस गुहामें उससे एकरूप होकर रहता है, हे वत्स ! उसका फिर शरीररूपी कन्दरामें प्रवेश नहीं होता [अर्थात् वह फिर जन्म ग्रहण नहीं करता] ।

वासना-त्याग

ज्ञाते वस्तुन्यपि बलवती वासनानादिरेषा ।
कर्ता भोक्ताप्यहमिति दृढा यास्य संसारहेतुः
प्रत्यग्दृष्ट्यात्मनि निवसता सापनेया प्रयत्ना-
न्मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत् ॥२६८॥

आत्म-वस्तुका ज्ञान हो जानेपर भी, जो 'मैं कर्ता और भोक्ता हूँ' इस रूपसे दृढ़ होकर [जन्म-मरणरूप] संसारका कारण होती है, उस प्रबल अनादि—वासनाको प्रत्यक् (आन्तरिक) दृष्टि-से आत्मस्वरूपमें स्थित होकर प्रयत्नपूर्वक दूर करना चाहिये; क्योंकि इस संसारमें वासनाकी क्षीणताको ही मुनियोंने मुक्ति कहा है।

अहंममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि ।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया ॥२६९॥

देह-इन्द्रिय आदि अनात्म-वस्तुओंमें जीवका जो अहं अथवा ममभाव है यही अध्यास है। विद्वान्को आत्मनिष्ठाद्वारा इसे दूर कर देना चाहिये।

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम् ।
सोऽहमित्येव सद्वृत्त्यानात्मन्यात्ममतिं जहि ॥२७०॥

प्रत्यगात्मरूप अपने-आपको बुद्धि और उसकी वृत्तियोंका साक्षी जानकर 'मैं वही हूँ' ऐसी समीचीन वृत्तिसे अनात्म-वस्तुओंमें फैली हुई आत्मबुद्धिका त्याग करो।

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२७१॥

लोकवासना, देहवासना और शास्त्रवासना इन तीनोंको छोड़कर आत्मामें हुए संसारके अध्यासका त्याग करो।

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥२७२॥

लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना इन तीनोंके कारण ही जीवको ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता ।

संसारकारागृहमोक्षमिच्छो-
रयोमयं पादनिबद्धशृङ्खलम् ।
वदन्ति तज्ज्ञाः पटुवासनात्रयं
योऽस्माद्विमुक्तः समुपैति मुक्तिम् ॥२७३॥

संसाररूप कारागारसे मुक्त होनेकी इच्छावाले पुरुषके लिये ब्रह्मज्ञ पुरुष इस प्रबल वासनात्रयको पैरोंमें पड़ी हुई लोहेकी बेड़ी बतलाते हैं जो इससे छुटकारा पा जाता है वही मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

जलादिसम्पर्कवशात्प्रभूत-
दुर्गन्धधूतागरुदिव्यवासना ।
सङ्घर्षणेनैव विभाति सम्य-
ग्विधूयमाने सति बाह्यगन्धे ॥२७४॥
अन्तःश्रितानन्तदुरन्तवासना-
धूलीविलिप्ता परमात्मवासना ।
प्रज्ञातिसङ्घर्षणतो विशुद्धा
प्रतीयते चन्दनगन्धवत्स्फुटा ॥२७५॥

जिस प्रकार जल आदिके संसर्गवश [किसी अन्य] अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त वस्तुका लेप चढ़ जानेसे दबी हुई अगरुकी दिव्य सुगन्ध सङ्घर्षण (घिसने) के द्वारा ही बाह्य दुर्गन्धके दूर होनेपर फिर अच्छी तरह प्रतीत होती है; उसी प्रकार अन्तः-

करणमें स्थित अनन्त दुर्वासनारूपी धूलिसे ढकी हुई परमात्म-वासना बुद्धिके अत्यन्त सङ्घर्षसे शुद्ध होकर चन्दनकी गन्धके समान ही स्पष्ट प्रतीत होने लगती है ।

अनात्मवासनाजालैस्तिरोभूतात्मवासना ।
नित्यात्मनिष्ठया तेषां नाशे भाति स्वयं स्फुटा ॥२७६॥

अनात्मवासनाओंके समूहसे आत्मवासना छिप गयी है; इसलिये निरन्तर आत्मनिष्ठामें स्थित रहनेसे उनका नाश हो जानेपर वह स्पष्ट भासने लगती है ।

यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मन-
स्तथा तथा मुञ्चति बाह्यवासना ।
निःशेषमोक्षे सति वासनाना-
मात्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या ॥२७७॥

मन जैसे-जैसे अन्तर्मुख हो जाता है, वैसे-वैसे ही वह बाह्य वासनाओंको छोड़ता जाता है । जिस समय वासनाओंसे पूर्णतया छुटकारा हो जाता है, उस समय आत्माका प्रतिबन्धशून्य अनुभव होने लगता है ।

अध्यास-निरास

स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः ।
वासनानां क्षयश्चातः स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२७८॥

[चित्तवृत्तियोंको रोककर] निरन्तर आत्मस्वरूपमें ही स्थिर रहनेसे योगीका मन नष्ट हो जाता है और उसकी वासनाओंका भी क्षय हो जाता है इसलिये अपने अध्यासको दूर करो ।

तमो द्वाभ्यां रजः सत्त्वात्सत्त्वं शुद्धेन नश्यति ।
तस्मात्सत्त्वमवष्टभ्य स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२७९॥

रजोगुण और सत्त्वगुणसे तम, सत्त्वगुणसे रज और शुद्ध सत्त्वसे सत्त्वगुणका नाश होता है इसलिये शुद्ध सत्त्वका आश्रय लेकर अपने अध्यासका त्याग करो ।

प्रारब्धं पुष्यति वपुरिति निश्चित्य निश्चलः ।
धैर्यमालम्ब्य यत्नेन स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८०॥

प्रारब्ध ही शरीरका पोषण करता है; ऐसा निश्चय कर निश्चलभावसे धैर्य धारण करके यत्नपूर्वक अपने अध्यासको छोड़ो ।

नाहं जीवः परं ब्रह्मेत्यतद्व्यावृत्तिपूर्वकम् ।
वासनावेगतः प्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८१॥

मैं जीव नहीं हूँ, परब्रह्म हूँ, इस प्रकार अपनेमें जीवभावका निषेध करते हुए, वासनात्रयके वेगसे प्राप्त हुए, जीवत्वके अध्यासका त्याग करो ।

श्रुत्या युक्त्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः ।
क्वचिदाभासतः प्राप्तस्वध्यासापनयं कुरु ॥२८२॥

श्रुति, युक्ति और अपने अनुभवसे आत्माकी सर्वात्मताको जानकर कभी भ्रमसे प्राप्त हुए अपने अध्यासका त्याग करो ।

अनादानविसर्गाभ्यामीषन्नास्ति क्रिया मुनेः ।
तदेकनिष्ठया नित्यं स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८३॥

बोधवान् मुनिको कोई भी वस्तु ग्राह्य अथवा त्याज्य न होनेसे कुछ भी कर्तव्य नहीं है इसलिये निरन्तर आत्मनिष्ठाद्वारा आत्मामें हुए अध्यासको त्यागो ।

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थब्रह्मात्मैकत्वबोधतः ।
ब्रह्मण्यात्मत्वदार्ढ्याय स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८४॥

'*तत्त्वमसि*' (छान्दो० ६ । ८) आदि महावाक्योंसे हुए ब्रह्म और आत्माके एकत्वज्ञानसे ब्रह्ममें आत्मबुद्धिको दृढ़ करनेके लिये अपने अध्यासको दूर करो ।

अहंभावस्य देहेऽस्मिन्निःशेषविलयावधि ।
सावधानेन युक्तात्मा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८५॥

इस देहमें जो अहंभाव (मैंपन) हो रहा है, उसका जबतक पूर्णतया लय न हो जाय, तबतक सावधानतापूर्वक युक्तचित्तसे अपने अध्यासको दूर करो ।

प्रतीतिर्जीवजगतोः स्वप्नवद्भाति यावता ।
तावन्निरन्तरं विद्वन्स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८६॥

जबतक स्वप्नके समान जीव और जगत्की प्रतीति हो रही है, तबतक हे विद्वन् ! अपने आत्मामें हुए इस अध्यासका निरन्तर त्याग करते रहो ।

निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरपि विस्मृतेः ।
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥२८७॥

निद्रा, लौकिक बातचीत अथवा शब्दादि किसीसे भी आत्मविस्मृतिको अवसर न देकर अर्थात् किसी भी कारणसे स्वरूपानुसन्धानको न भूलकर अपने अन्तःकरणमें निरन्तर आत्माका चिन्तन करो ।

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः ।
त्यक्त्वा चाण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव ॥२८८॥

माता-पिताके मलसे उत्पन्न तथा मल-मांससे भरे हुए इस शरीरको चाण्डालके समान दूरसे ही त्यागकर ब्रह्मभावमें स्थित होकर कृतकृत्य हो जाओ ।

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि ।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने ॥२८९॥

हे मुने ! [घटका नाश होनेपर] जैसे घटाकाश महाकाशमें मिल जाता है, वैसे ही जीवात्माको परमात्मामें लीन करके सर्वदा अखण्डभावसे मौन होकर स्थित रहो ।

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयम्भूय सदात्मना ।
ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत् ॥२९०॥

जगत्का अधिष्ठान जो स्वयंप्रकाश परब्रह्म है, उस सत्स्वरूपसे स्वयं एक होकर पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों उपाधियोंको मलसे भरे हुए भाण्डके समान त्याग दो ।

चिदात्मनि सदानन्दे देहारूढामहंधियम् ।
निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा ॥२९१॥

देहमें व्याप्त हुई अहंबुद्धिको नित्यानन्दस्वरूप चिदात्मामें स्थित करके लिङ्ग-शरीरके अभिमानको छोड़कर सदा अद्वितीयरूपसे स्थित रहो ।

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥२९२॥

जिसमें यह जगत्‌का आभास दर्पणमें प्रतिबिम्बित नगरके समान प्रतीत हो रहा है, वह ब्रह्म ही मैं हूँ, ऐसा जान लेनेपर तुम कृतकृत्य हो जाओगे ।

यत्सत्यभूतं निजरूपमाद्यं
चिदद्वयानन्दमरूपमक्रियम् ।
तदेत्य मिथ्यावपुरुत्सृजैत-
च्छैलूषवद्वेषमुपात्तमात्मनः ॥२९३॥

जो चेतन, अद्वितीय, आनन्दस्वरूप और निष्क्रिय ब्रह्म सत्य-स्वरूप तथा अपना आद्य (पहला—मूल) स्वरूप है, उसको प्राप्त होकर नटके समान धारण किये इस शरीररूपी मिथ्या वेषकी आस्था त्याग दो ।

अहंपदार्थ-निरूपण

सर्वात्मना दृश्यमिदं मृषैव
नैवाहमर्थः क्षणिकत्वदर्शनात् ।
जानाम्यहं सर्वमिति प्रतीतिः
कुतोऽहमादेः क्षणिकस्य सिध्येत् ॥२९४॥

यह दृश्य-जगत् सर्वथा मिथ्या ही है । इसकी क्षणिकता देखनेमें आती है, इसलिये यह अहंपदार्थ नहीं हो सकता । अतः इन क्षणिक अहंकारादिको 'मैं सब कुछ जानता हूँ'—ऐसी प्रतीति कैसे हो सकती है ?

अहंपदार्थस्त्वहमादिसाक्षी
नित्यं सुषुप्तावपि भावदर्शनात् ।

ब्रूते ह्यजो नित्य इति श्रुतिः स्वयं
तत्प्रत्यगात्मा सदसद्विलक्षणः ॥२९५॥

अहंपदार्थ तो अहंकार आदिका साक्षी है, क्योंकि उसकी सत्ता सुषुप्तिमें भी देखी जाती है। स्वयं श्रुति भी उसे '*अजो नित्यः*' —ऐसा कहती है। अतः वह प्रत्यगात्मा है और सत्-असत्से विलक्षण है।

विकारिणां सर्वविकारवेत्ता
नित्योऽविकारो भवितुं समर्हति।
मनोरथस्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटं
पुनः पुनर्दृष्टमसत्त्वमेतयोः ॥२९६॥

अहंकार आदि विकारी वस्तुओंके समस्त विकारोंको जाननेवाला नित्य तथा अविकारी ही होना चाहिये। मनोरथ-स्वप्न और सुषुप्ति-कालमें इन स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरोंका अभाव बार-बार स्पष्ट देखा गया है [अतः ये 'अहंपदार्थ आत्मा' कैसे हो सकते हैं ?]

अतोऽभिमानं त्यज मांसपिण्डे
पिण्डाभिमानिन्यपि बुद्धिकल्पिते।
कालत्रयाबाध्यमखण्डबोधं
ज्ञात्वा स्वमात्मानमुपैहि शान्तिम् ॥२९७॥

इसलिये इस मांस-पिण्ड और इसके बुद्धि-कल्पित अभिमानी जीवमें अहंबुद्धि छोड़ो और अपने आत्माको तीनों कालोंमें अबाधित और अखण्ड ज्ञानस्वरूप जानकर शान्ति-लाभ करो।

त्यजाभिमानं कुलगोत्रनाम-
रूपाश्रमेष्वार्द्रशवाश्रितेषु ।
लिङ्गस्य धर्मानपि कर्तृतादीं-
स्त्यक्त्वा भवाखण्डसुखस्वरूपः ॥२९८॥

इसलिये लिबलिबे मांस-पिण्डके आश्रित रहनेवाले, कुल, गोत्र, नाम, रूप और आश्रमका अभिमान छोड़ो तथा कर्तापन, भोक्तापन आदि लिङ्गदेहके धर्मोंको भी त्यागकर अखण्ड आनन्दस्वरूप हो जाओ।

अहंकार-निन्दा

सन्त्यन्ये प्रतिबन्धाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः ।
तेषामेकं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहङ्कारः ॥२९९॥

पुरुषको इस संसार-बन्धनकी प्राप्तिके कारणरूप और भी अनेक प्रतिबन्ध हैं; किन्तु उन सबका मूल प्रथम विकार अहंकार ही है, [क्योंकि अन्य समस्त अनात्मभावोंका प्रादुर्भाव इसीसे होता है]।

यावत्स्यात्स्वस्य सम्बन्धोऽहङ्कारेण दुरात्मना ।
तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्ता विलक्षणा ॥३००॥

जबतक इस दुरात्मा अहङ्कारसे आत्माका सम्बन्ध है, तबतक मुक्ति-जैसी विलक्षण बातकी लेशमात्र भी आशा न रखनी चाहिये।

अहङ्कारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।
चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः ॥३०१॥

अहंकाररूपी ग्रह (राहु) से मुक्त हो जानेपर चन्द्रमाके समान आत्मा निर्मल, पूर्ण एवं नित्यानन्दस्वरूप स्वयंप्रकाश होकर अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ।

यो वा पुरे सोऽहमिति प्रतीतो
बुद्ध्या विक्लृप्तस्तमसातिमूढया ।
तस्यैव निःशेषतया विनाशे
ब्रह्मात्मभावः प्रतिबन्धशून्यः ॥३०२॥

अज्ञानसे अत्यन्त मोहित बुद्धिकी कल्पनासे इस शरीरमें ही जो 'यही मैं हूँ'— ऐसी प्रतीति हो रही है, उसका सर्वथा नाश हो जानेपर ब्रह्ममें निर्बाध आत्मभाव हो जाता है ।

ब्रह्मानन्दनिधिर्महाबलवताहङ्कारघोराहिना
संवेष्ट्यात्मनि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः ।
विज्ञानाख्यमहासिना द्युतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयं
निर्मूल्याहिमिमं निधिं सुखकरं धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः ३०३

ब्रह्मानन्दरूपी परमधनको अहंकाररूप महाभयङ्कर सर्पने अपने सत्त्व, रज, तमरूप तीन प्रचण्ड मस्तकोंसे लपेटकर छिपा रक्खा है; जब विवेकी पुरुष अनुभवज्ञानरूप चमचमाते हुए महान् खड्गसे इन तीनों मस्तकोंको काटकर इस सर्पका नाश कर देता है, तभी वह इस परम आनन्ददायिनी सम्पत्तिको भोग सकता है ।

यावद्वा यत्किञ्चिद्विषदोषस्फूर्तिरस्ति चेद्देहे ।
कथमारोग्याय भवेत्तद्वदहन्तापि योगिनो मुक्त्यै ॥३०४॥

जबतक देहमें विषका थोड़ा-सा भी दोष रहता है, तबतक वह उसे नीरोग कैसे रहने देगा ? उसी प्रकार योगीकी मुक्तिके मार्गमें अहंकारका यत्किञ्चित् लेश भी भारी प्रतिबन्धक होता है ।

अहमोऽत्यन्तनिवृत्त्या तत्कृतनानाविकल्पसंहृत्या ।
प्रत्यक्तत्त्वविवेकादयमहमस्मीति विन्दते तत्त्वम् ॥३०५॥

अहंकारकी निःशेष निवृत्तिसे उससे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके विकल्पोंका नाश हो जानेपर आत्मतत्त्वका विवेक हो जानेसे 'यह आत्मा ही मैं हूँ' ऐसा तत्त्व-बोध प्राप्त होता है ।

अहङ्कर्तर्यस्मिन्नहमिति मतिं मुञ्च सहसा
विकारात्मन्यात्मप्रतिफलजुषि स्वस्थितिमुषि ।
यदध्यासात्प्राप्ता जनिमृतिजरादुःखबहुला
प्रतीचश्चिन्मूर्तेस्तव सुखतनोः संसृतिरियम् ॥३०६॥

इस विकारात्मक, आत्मप्रतिबिम्बयुक्त और स्वरूपको छिपानेवाले अहंकारमें अहंबुद्धिको शीघ्र ही त्याग दे । इसके अध्याससे ही तुझ चैतन्यमूर्ति, आनन्दस्वरूप प्रत्यगात्माको जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि नाना प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण यह संसार-बन्धन प्राप्त हुआ है ।

सदैकरूपस्य चिदात्मनो विभो-
रानन्दमूर्तेरनवद्यकीर्तेः ।
नैवान्यथा क्वाप्यविकारिणस्ते
विनाहमध्यासममुष्य संसृतिः ॥३०७॥

इस अहंकाररूप अध्यासके बिना तुझ सर्वदा एकरूप, चिदात्मा, व्यापक, आनन्दस्वरूप, पवित्रकीर्ति और अविकारी आत्माको और किसी प्रकार संसार-बन्धनकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

तस्मादहङ्कारमिमं स्वशत्रुं
भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम् ।
विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं
भुङ्क्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम् ॥३०८॥

इसलिये हे विद्वन् ! भोजन करनेवाले पुरुषके गलेमें काँटेके समान खटकनेवाले इस अहंकाररूप अपने शत्रुको विज्ञानरूप महाखड्ग-से भली प्रकार छेदन कर आत्म-साम्राज्य-सुखका यथेष्ट भोग करो ।

ततोऽहमादेर्विनिवर्त्य वृत्तिं
सन्त्यक्तरागः परमार्थलाभात् ।
तूष्णीं समास्स्वात्मसुखानुभूत्या
पूर्णात्मना ब्रह्मणि निर्विकल्पः ॥३०९॥

फिर अहंकार आदिकी कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि वृत्तियोंको हटा-कर परमार्थ-तत्त्वकी प्राप्तिसे रागरहित होकर आत्मानन्दके अनुभवसे ब्रह्मभावमें पूर्णतया स्थित होकर निर्विकल्प और मौन हो जाओ ।

समूलकृत्तोऽपि महानहं पुन-
र्व्युल्लेखितः स्याद्यदि चेतसा क्षणम् ।
सञ्जीव्य विक्षेपशतं करोति
नभस्वता प्रावृषि वारिदो यथा ॥३१०॥

यह प्रबल अहंकार जड-मूलसे नष्ट कर दिया जानेपर भी यदि एक क्षणमात्रको चित्तका सम्पर्क प्राप्त कर ले तो पुनः प्रकट होकर सैकड़ों उत्पात खड़े कर देता है; जैसे कि वर्षाकालमें वायुसे संयुक्त हुआ मेघ।

क्रिया, चिन्ता और वासनाका त्याग

निगृह्य शत्रोरहमोऽवकाशः
क्वचिन्न देयो विषयानुचिन्तया।
स एव सञ्जीवनहेतुरस्य
प्रक्षीणजम्बीरतरोरिवाम्बु ॥३११॥

इस अहंकाररूप शत्रुका निग्रह कर लेनेपर फिर विषयचिन्तनके द्वारा इसे शिर उठानेका अवसर कभी न देना चाहिये, क्योंकि नष्ट हुए जम्बीरके वृक्षके लिये जलके समान इसके पुनरुज्जीवन (फिर जी उठने) का कारण यह विषय-चिन्तन ही है।

देहात्मना संस्थित एव कामी
विलक्षणः कामयिता कथं स्यात्।
अतोऽर्थसन्धानपरत्वमेव
भेदप्रसक्त्या भवबन्धहेतुः ॥३१२॥

जो पुरुष देहात्म-बुद्धिसे स्थित है वही कामनावाला होता है। जिसका देहसे सम्बन्ध नहीं है, वह विलक्षण आत्मा कैसे सकाम हो सकता है; इसलिये भेदासक्तिका कारण होनेसे विषय-चिन्तनमें लगा रहना ही संसार-बन्धनका मुख्य कारण है।

कार्यप्रवर्धनाद्बीजप्रवृद्धिः परिदृश्यते ।
कार्यनाशाद्बीजनाशस्तस्मात्कार्यं निरोधयेत् ॥३१३॥

कार्यके बढ़नेसे उसके बीजकी वृद्धि होती भी देखी जाती है और कार्यका नाश हो जानेसे बीज भी नष्ट हो जाता है; इसलिये कार्यका ही नाश कर देना चाहिये ।

वासनावृद्धितः कार्यं कार्यवृद्ध्या च वासना ।
वर्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्तते ॥३१४॥

वासनाके बढ़नेसे कार्य बढ़ता है और कार्यके बढ़नेसे वासना बढ़ती है; इस प्रकार मनुष्यका संसार-बन्धन बिल्कुल नहीं छूटता ।

संसारबन्धविच्छित्त्यै तद्द्वयं प्रदहेद्यतिः ।
वासनावृद्धिरेताभ्यां चिन्तया क्रियया बहिः ॥३१५॥

इसलिये संसार-बन्धनको काटनेके लिये मुनि इन दोनोंका नाश करे । विषयोंकी चिन्ता और बाह्य-क्रिया इनसे ही वासनाकी वृद्धि होती है ।

ताभ्यां प्रवर्धमाना सा सूते संसृतिमात्मनः ।
त्रयाणां च क्षयोपायः सर्वावस्थासु सर्वदा ॥३१६॥
सर्वत्र सर्वतः सर्वं ब्रह्ममात्रावलोकनम् ।
सद्भाववासनादार्ढ्यात्तत्त्रयं लयमश्नुते ॥३१७॥

और इन दोनोंसे ही बढ़कर वह वासना आत्माके लिये संसाररूप बन्धन उत्पन्न करती है । इन तीनोंके क्षयका उपाय सब अवस्थाओंमें सदा सब जगह सब ओर सबको ब्रह्ममात्र देखना ही

है। इस ब्रह्ममय वासनाके दृढ़ हो जानेपर इन तीनोंका लय हो जाता है।

क्रियानाशे भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः।
वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ॥३१८॥

क्रियाके नष्ट हो जानेसे चिन्ताका नाश होता है और चिन्ताके नाशसे वासनाओंका क्षय होता है; इस वासनाक्षयका नाम ही मोह है और यही जीवन्मुक्ति कहलाती है।

सद्वासनास्फूर्तिविजृम्भणे सति
ह्यसौ विलीना त्वहमादिवासना।
अतिप्रकृष्टाप्यरुणप्रभायां
विलीयते साधु यथा तमिस्रा ॥३१९॥

सूर्यकी प्रभाके उदय होते ही जैसे अत्यन्त घोर अँधेरी रातका भी सर्वथा नाश हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म-वासनाकी स्फूर्तिका विस्तार होनेपर यह अहंकारादिकी वासनाएँ लीन हो जाती हैं।

तमस्तमःकार्यमनर्थजालं
न दृश्यते सत्युदिते दिनेशे।
तथाद्वयानन्दरसानुभूतौ
नैवास्ति बन्धो न च दुःखगन्धः ॥३२०॥

सूर्यके उदय होनेपर जैसे अन्धकार और उसमें होनेवाले [चोरी आदि] अनर्थसमूह कहीं दिखलायी नहीं देते, वैसे ही इस अद्वितीय आत्मानन्दके रसका अनुभव होनेपर न तो संसार-बन्धन रहता है और न दुःखका ही गन्ध रहता है।

प्रमाद-निन्दा

दृश्यं प्रतीतं प्रविलापयन्स्वयं
सन्मात्रमानन्दघनं विभावयन् ।
समाहितः सन्बहिरन्तरं वा
कालं नयेथाः सति कर्मबन्धे ॥३२१॥

यदि तुम्हारा कर्मबन्धन अभी शेष है तो इस प्रतीयमान दृश्यका लय करते हुए तथा बाहर-भीतरसे सावधान रहकर अपने सत्तामात्र आनन्दघन स्वरूपका चिन्तन करते हुए काल-क्षेप करो ।

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन ।
प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान्ब्रह्मणः सुतः ॥३२२॥

ब्रह्मविचारमें कभी प्रमाद (असावधानी) न करना चाहिये, क्योंकि ब्रह्माजीके पुत्र (भगवान् सनत्कुमारजी) ने 'प्रमाद मृत्यु है'—ऐसा कहा है ।

न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः ।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा ॥३२३॥

विचारवान् पुरुषके लिये अपने स्वरूपानुसन्धानसे प्रमाद करनेसे बढ़कर और कोई अनर्थ नहीं है, क्योंकि इसीसे मोह होता है और मोहसे अहंकार, अहंकारसे बन्धन तथा बन्धनसे क्लेशकी प्राप्ति होती है ।

विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विद्वांसमपि विस्मृतिः ।
विक्षेपयति धीदोषैर्योषा जारमिव प्रियम् ॥३२४॥

जिस प्रकार कुलटा स्त्री अपने प्रेमी जार-पुरुषको उसकी बुद्धि बिगाड़कर पागल बना देती है उसी प्रकार विद्वान् पुरुषको भी विषयोंमें प्रवृत्त होता देखकर आत्मविस्मृति बुद्धिदोषोंसे विक्षिप्त कर देती है ।

यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति ।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम् ॥३२५॥

जिस प्रकार शैवालको जलपरसे एक बार हटा देनेपर वह क्षणभर भी अलग नहीं रहता, [तुरंत ही फिर उसको ढँक लेता है] उसी प्रकार आत्मविचारहीन विद्वान्‌को भी माया फिर घेर लेती है ।

लक्ष्यच्युतं सद्यदि चित्तमीष-
द्बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः ।
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः
सोपानपङ्क्तौ पतितो यथा तथा ॥३२६॥

जैसे असावधानतावश (हाथसे छूटकर) सीढ़ियोंपर गिरी हुई खेलकी गेंद एक सीढ़ीसे दूसरी सीढ़ीपर गिरती हुई नीचे चली जाती है वैसे ही यदि चित्त अपने लक्ष्य (ब्रह्म) से हटकर थोड़ा-सा भी बहिर्मुख हो जाता है तो फिर बराबर नीचेहीकी ओर गिरता जाता है ।

विषयेष्वाविशच्चेतः सङ्कल्पयति तद्गुणान् ।
सम्यक्सङ्कल्पनात्कामः कामात्पुंसः प्रवर्तनम् ॥३२७॥

विषयोंमें लगा हुआ चित्त उनके गुणोंका चिन्तन करता है, फिर निरन्तर चिन्तन करनेसे उनकी कामना जाग्रत् होती है और कामनासे पुरुषकी विषयोंमें प्रवृत्ति हो जाती है ।

ततः स्वरूपविभ्रंशो विभ्रष्टस्तु पतत्यधः ।
पतितस्य विना नाशं पुनर्नारोह ईक्ष्यते ।
सङ्कल्पं वर्जयेत्तस्मात्सर्वानर्थस्य कारणम् ॥३२८॥

विषयोंकी प्रवृत्तिसे मनुष्य आत्मस्वरूपसे गिर जाता है और जो एक बार स्वरूपसे गिर गया, उसका निरन्तर अधःपतन होता रहता है तथा पतित पुरुषका नाशके सिवा फिर उत्थान तो प्रायः कभी देखा नहीं जाता । इसलिये सम्पूर्ण अनर्थोंके कारणरूप सङ्कल्पको त्याग देना चाहिये ।

अतः प्रमादान्न परोऽस्ति मृत्यु-
र्विवेकिनो ब्रह्मविदः समाधौ ।
समाहितः सिद्धिमुपैति सम्यक्
समाहितात्मा भव सावधानः ॥३२९॥

इसलिये विवेकी और ब्रह्मवेत्ता पुरुषके लिये समाधिमें प्रमाद करनेसे बढ़कर और कोई मृत्यु नहीं है; समाहित पुरुष ही पूर्ण आत्मसिद्धि प्राप्त कर सकता है; इसलिये सावधानतापूर्वक चित्तको समाहित (स्थिर) करो ।

असत्-परिहार

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे स च केवलः ।
यत्किञ्चित्पश्यतो भेदं भयं ब्रूते यजुःश्रुतिः ॥३३०॥

जिसने जीते हुए ही कैवल्यपद प्राप्त कर लिया है उसकी देहपातके अनन्तर भी कैवल्यमुक्ति ही होती है, (भेददर्शीकी नहीं) क्योंकि जो थोड़ा-सा भी भेद देखता है उसके लिये यजुर्वेदकी श्रुति भय बताती है ।

यदा कदा वापि विपश्चिदेष
ब्रह्मण्यनन्तेऽप्यणुमात्रभेदम् ।
पश्यत्यथामुष्य भयं तदैव
यद्वीक्षितं भिन्नतया प्रमादात् ॥३३१॥

जब कभी यह विद्वान् अनन्त ब्रह्ममें अणुमात्र भी भेद-दृष्टि करता है तभी इसको भयकी प्राप्ति होती है, क्योंकि स्वरूपके प्रमादसे ही अखण्ड आत्मामें भेदकी प्रतीति हुई है ।

श्रुतिस्मृतिन्यायशतैर्निषिद्धे
दृश्येऽत्र यः स्वात्ममतिं करोति ।
उपैति दुःखोपरि दुःखजातं
निषिद्धकर्ता स मलिम्लुचो यथा ॥३३२॥

श्रुति, स्मृति और सैकड़ों युक्तियोंसे निषिद्ध हुए इस दृश्य (देहादि) में जो आत्मबुद्धि करता है वह निषिद्ध कर्म करनेवाले चोरके समान दुःख-पर-दुःख भोगता है ।

सत्याभिसन्धानरतो विमुक्तो
महत्त्वमात्मीयमुपैति नित्यम् ।
मिथ्याभिसन्धानरतस्तु नश्येद्
दृष्टं तदेतद्यदचोरचोरयोः ॥३३३॥

जो अद्वितीय ब्रह्मरूप सत्य पदार्थकी खोज करता है वही मुक्त होकर अपने नित्य महत्त्वको प्राप्त करता है और जो मिथ्या दृश्य पदार्थोंके पीछे पड़ा रहता है वह नष्ट हो जाता है; ऐसा ही साधु और चोरके विषयमें* देखा भी गया है।

यतिरसदनुसन्धिं बन्धहेतुं विहाय
स्वयमयमहमस्मीत्यात्मदृष्ट्यैव तिष्ठेत्।
सुखयति ननु निष्ठा ब्रह्मणि स्वानुभूत्या
हरति परमविद्याकार्यदुःखं प्रतीतम् ॥३३४॥

यतिको चाहिये कि असत्-पदार्थोंका पीछा छोड़कर 'यह साक्षात् ब्रह्म ही मैं हूँ' ऐसी आत्मदृष्टिमें ही स्थिर होकर रहे। अपने अनुभवसे उत्पन्न हुई ब्रह्मनिष्ठा ही अविद्याके कार्यभूत इस प्रतीयमान प्रपञ्चके दुःखको दूर करके परम सुख देती है।

बाह्यानुसन्धिः परिवर्धयेत्फलं
दुर्वासनामेव ततस्ततोऽधिकाम्।
ज्ञात्वा विवेकैः परिहृत्य बाह्यं
स्वात्मानुसन्धिं विदधीत नित्यम् ॥३३५॥

---

*इस प्रसंगका छान्दोग्योपनिषद् (६ । १६ । १-२) में इस प्रकार वर्णन किया है कि जिस व्यक्तिपर चोरी करनेका सन्देह होता है उसे राजपुरुष तपाया हुआ परशु देते हैं। यदि उसने चोरी की होती है और वह 'मैंने चोरी नहीं की' ऐसा कहकर मिथ्या भाषण करता है तो उससे दग्ध हो जाता है और तब राजपुरुष भी उसे मार डालते हैं; और यदि वह वास्तवमें चोर नहीं होता तो सत्यसे सुरक्षित रहनेके कारण वह उस परशुसे दग्ध नहीं होता और उसे राजपुरुष भी छोड़ देते हैं।

बाह्य विषयोंका चिन्तन अपने दुर्वासनारूप फलको ही उत्तरोत्तर बढ़ाता है इसलिये विवेकपूर्वक आत्मस्वरूपको जानकर बाह्य विषयोंको छोड़ता हुआ नित्य आत्मानुसन्धान ही करता रहे।

बाह्ये निरुद्धे मनसः प्रसन्नता
मनःप्रसादे परमात्मदर्शनम्।
तस्मिन्सुदृष्टे भवबन्धनाशो
बहिर्निरोधः पदवी विमुक्तेः ॥३३६॥

बाह्य पदार्थोंका निषेध कर देनेपर मनमें आनन्द होता है और मनमें आनन्दका उद्रेक होनेपर परमात्माका साक्षात्कार होता है और उसका सम्यक् साक्षात्कार होनेपर संसार-बन्धनका नाश हो जाता है। इस प्रकार बाह्य वस्तुओंका निषेध ही मुक्तिका मार्ग है।

कः पण्डितः सन्सदसद्विवेकी
श्रुतिप्रमाणः परमार्थदर्शी।
जानन्हि कुर्यादसतोऽवलम्बं
स्वपातहेतोः शिशुवन्मुमुक्षुः ॥३३७॥

सत्-असत् वस्तुका विवेकी, श्रुतिप्रमाणका जाननेवाला, परमार्थ-तत्त्वका ज्ञाता ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो मुक्तिकी इच्छा रखकर भी जान-बूझकर बालकके समान अपने पतनके हेतु असत् पदार्थोंका ग्रहण करेगा।

देहादिसंसक्तिमतो न मुक्ति-
र्मुक्तस्य देहाद्यभिमत्यभावः।

सुप्तस्य नो जागरणं न जाग्रतः
स्वप्नस्तयोर्भिन्नगुणाश्रयत्वात् ॥३३८॥

जिसकी देह आदि अनात्मवस्तुओंमें आसक्ति है उसकी मुक्ति नहीं हो सकती और जो मुक्त हो गया है उसका देहादिमें अभिमान नहीं हो सकता। जैसे सोये हुए पुरुषको जागृतिका अनुभव नहीं हो सकता और जाग्रत् पुरुषको स्वप्नका अनुभव नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों अवस्थाएँ भिन्न गुणोंके आश्रय रहती हैं।

आत्मनिष्ठाका विधान

अन्तर्बहिः स्वं स्थिरजङ्गमेषु
ज्ञानात्मनाधारतया विलोक्य।
त्यक्ताखिलोपाधिरखण्डरूपः
पूर्णात्मना यः स्थित एष मुक्तः ॥३३९॥

जो समस्त स्थावर-जङ्गम पदार्थोंके भीतर और बाहर अपनेको ज्ञानस्वरूपसे उनका आधारभूत देखकर समस्त उपाधियोंको छोड़कर अखण्ड परिपूर्णसे स्थित रहता है, वही मुक्त है।

सर्वात्मना बन्धविमुक्तिहेतुः
सर्वात्मभावान्न परोऽस्ति कश्चित्।
दृश्याग्रहे सत्युपपद्यतेऽसौ
सर्वात्मभावोऽस्य सदात्मनिष्ठया ॥३४०॥

संसार-बन्धनसे सर्वथा मुक्त होनेमें सर्वात्म-भाव (सबको आत्मारूप देखनेके भाव) से बढ़कर और कोई हेतु नहीं है।

निरन्तर आत्मनिष्ठामें स्थित रहनेसे दृश्यका अग्रहण (बाध) होनेपर इस सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है ।

दृश्यस्याग्रहणं कथं नु घटते देहात्मना तिष्ठतो
बाह्यार्थानुभवप्रसक्तमनसस्तत्तत्क्रियां कुर्वतः ।
संन्यस्ताखिलधर्मकर्मविषयैर्नित्यात्मनिष्ठापरै-
स्तत्त्वज्ञैः करणीयमात्मनि सदानन्देच्छुभिर्यत्नतः ॥३४१॥

जो लोग देहात्मबुद्धिसे स्थित रहकर बाह्य पदार्थोंकी मनमें आसक्ति रखकर उन्हींके लिये निरन्तर काममें लगे रहते हैं; उनको दृश्यकी अप्रतीति कैसे हो सकती है ? इसलिये नित्यानन्दके इच्छुक तत्त्वज्ञानीको चाहिये कि वह समस्त धर्म, कर्म एवं विषयोंको त्याग कर निरन्तर आत्मनिष्ठामें तत्पर हो अपने आत्मामें प्रतीत होनेवाले इस दृश्य-प्रपञ्चका प्रयत्नपूर्वक बाध करे ।

सार्वात्म्यसिद्धये भिक्षोः कृतश्रवणकर्मणः ।
समाधिं विदधात्येषा शान्तो दान्त इति श्रुतिः ॥३४२॥

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः' (बृ० ४ । ४ । २३) यह श्रुति यतिके लिये वेदान्त-श्रवणके अनन्तर सार्वात्म्यभावकी सिद्धिके लिये समाधिका विधान करती है ।

आरूढशक्तेरहमो विनाशः
कर्तुं न शक्यः सहसापि पण्डितैः ।
ये निर्विकल्पाख्यसमाधिनिश्चला-
स्तानन्तरानन्तभवा हि वासनाः ॥३४३॥

अहंकारकी शक्ति जबतक बढ़ी-चढ़ी रहती है तबतक कोई विद्वान् उसका एकाएकी नाश नहीं कर सकता, क्योंकि जो निर्विकल्प-समाधिमें अविचल-भावसे स्थित हो गये हैं उनके अंदर भी वासनाएँ देखी जाती हैं।

अहंबुद्ध्यैव मोहिन्या योजयित्वावृतेर्बलात्।
विक्षेपशक्तिः पुरुषं विक्षेपयति तद्गुणैः ॥३४४॥

मोहित कर देनेवाली अहंबुद्धिके साथ अपनी आवरण-शक्तिके द्वारा पुरुषका संयोग कराकर विक्षेपशक्ति उस (अहंबुद्धि) के गुणोंसे मनुष्यको विक्षिप्त कर देती है।

विक्षेपशक्तिविजयो विषमो विधातुं
निःशेषमावरणशक्तिनिवृत्त्यभावे।
दृग्दृश्ययोः स्फुटपयोजलवद्विभागे
नश्येत्तदावरणमात्मनि च स्वभावात्।
निःसंशयेन भवति प्रतिबन्धशून्यो
विक्षेपणं न हि तदा यदि चेन्मृषार्थे ॥३४५॥
सम्यग्विवेकः स्फुटबोधजन्यो
विभज्य दृग्दृश्यपदार्थतत्त्वम्।
छिनत्ति मायाकृतमोहबन्धं
यस्माद्विमुक्तस्य पुनर्न संसृतिः ॥३४६॥

आवरणशक्तिकी पूर्ण निवृत्तिके बिना विक्षेप-शक्तिपर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। दूध और जलके समान द्रष्टा और दृश्यके अलग-अलग होनेका स्पष्ट ज्ञान हो जानेपर आत्मामें छायी हुई वह आवरण-शक्ति अपने आप ही नष्ट हो जाती है।

यदि मिथ्या दीखनेवाले [इन बुद्धि आदि] पदार्थोंमें द्रष्टा और दृश्य पदार्थोंके स्वरूपको पृथक्-पृथक् करके, स्पष्ट बोधके कारण होनेवाला निःसन्देहपूर्वक बाधरहित पूर्ण विवेक हो जाय तो फिर विक्षेप नहीं होता और वह विवेक मायाजनित मोहबन्धन-को भी काट डालता है; जिससे मुक्त हुए पुरुषको फिर [जन्म-मरणरूप] संसारकी प्राप्ति नहीं होती ।

परावरैकत्वविवेकवह्नि-
र्दहत्यविद्यागहनं ह्यशेषम् ।
किं स्यात्पुनः संसरणस्य बीज-
मद्वैतभावं समुपेयुषोऽस्य ॥३४७॥

ब्रह्म और आत्माका एकत्वज्ञानरूप अग्नि अविद्यारूप समस्त वनको भस्म कर देता है । [अविद्याके सर्वथा नष्ट हो जानेपर] जब जीवको अद्वैत-भावकी प्राप्ति हो जाती है तब उसको पुनः संसार-प्राप्तिका कारण ही क्या रह जाता है ?

आवरणस्य निवृत्ति-
र्भवति च सम्यक्पदार्थदर्शनतः ।
मिथ्याज्ञानविनाश-
स्तद्वद्विक्षेपजनितदुःखनिवृत्तिः ॥३४८॥

आत्मवस्तुका ठीक-ठीक साक्षात्कार हो जानेसे आवरणका नाश हो जाता है तथा मिथ्याज्ञानका नाश और विक्षेपजनित दुःखकी निवृत्ति हो जाती है ।

अधिष्ठान-निरूपण

एतत्त्रितयं दृष्टं सम्यग्रज्जुस्वरूपविज्ञानात् ।
तस्माद्वस्तु सतत्त्वं ज्ञातव्यं बन्धमुक्तये विदुषा ॥३४९॥

[रज्जुमें भ्रमके कारण सर्पकी प्रतीति होती है और उस मिथ्या प्रतीतिसे ही भय, कम्प आदि दुःखोंकी प्राप्ति होती है किन्तु दीपक आदिके द्वारा जिस प्रकार] रज्जुके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होते ही [रज्जुका अज्ञान (आवरण), अज्ञानजन्य सर्प (मल) और सर्प-प्रतीतिसे होनेवाले भय, कम्प आदि (विक्षेप)] ये तीनों एक साथ निवृत्त होते देखे जाते हैं [उसी प्रकार आत्मस्वरूपका ज्ञान होनेपर आत्माका अज्ञान, अज्ञानजन्य प्रपञ्चकी प्रतीति और उससे होनेवाले दुःखकी एक साथ ही निवृत्ति हो जाती है] इसलिये संसार-बन्धनसे छूटनेके लिये विद्वान्‌को तत्त्वसहित आत्मपदार्थका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

अयोऽग्नियोगादिव सत्समन्वया-
न्मात्रादिरूपेण विजृम्भते धीः ।
तत्कार्यमेतद्‌द्वितयं यतो मृषा
दृष्टं भ्रमस्वप्नमनोरथेषु ॥३५०॥

अग्निके संयोगसे जैसे लोहा [कुदाल आदि नाना प्रकारके रूपोंको धारण करता है] उसी प्रकार आत्माके संयोगसे बुद्धि [शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि] नाना प्रकारके विषयोंमें प्रकाशित होती है । यह द्वैत-प्रपञ्च उस बुद्धिका ही कार्य है, इसलिये मिथ्या है; क्योंकि भ्रम, स्वप्न और मनोरथके समय इसकी प्रतीतिका मिथ्यात्व स्पष्ट देखा है ।

ततो विकाराः प्रकृतेरहंमुखा
देहावसाना विषयाश्च सर्वे ।
क्षणेऽन्यथाभावितया ह्यमीषा-
मसत्त्वमात्मा तु कदापि नान्यथा ॥३५१॥

इसलिये अहंकारसे लेकर देहतक प्रकृतिके जितने विकार अथवा विषय हैं वे सभी क्षण-क्षणमें बदलनेवाले होनेसे असत्य हैं, आत्मा तो कभी नहीं बदलता, वह तो सदा ही एकरस रहता है ।

नित्याद्वयाखण्डचिदेकरूपो
बुद्ध्यादिसाक्षी सदसद्विलक्षणः ।
अहंपदप्रत्ययलक्षितार्थः
प्रत्यक्सदानन्दघनः परात्मा ॥३५२॥

जो 'अहं' पदकी प्रतीतिसे लक्षित होता है वह नित्य आनन्दघन परमात्मा तो सदा ही अद्वितीय, अखण्ड, चैतन्यस्वरूप, बुद्धि आदिका साक्षी, सत्-असत्से भिन्न और प्रत्यक् (अन्तरतम) है ।

इत्थं विपश्चित्सदसद्विभज्य
निश्चित्य तत्त्वं निजबोधदृष्ट्या ।
ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डबोधं
तेभ्यो विमुक्तः स्वयमेव शाम्यति ॥३५३॥

विद्वान् पुरुष इस प्रकार सत् और असत्का विभाग करके अपनी ज्ञान-दृष्टिसे तत्त्वका निश्चय करके और अखण्ड बोधस्वरूप आत्माको जानकर असत्पदार्थोंसे मुक्त होकर स्वयं ही शान्त हो जाता है ।

समाधि-निरूपण

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा ।
समाधिनाविकल्पेन यदाद्वैतात्मदर्शनम् ॥३५४॥

अज्ञानरूप हृदयकी ग्रन्थिका सर्वथा नाश तो तभी होता है जब निर्विकल्प समाधिद्वारा अद्वैत आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कर लिया जाता है ।

त्वमहमिदमितीयं कल्पना बुद्धिदोषात्
प्रभवति परमात्मन्यद्वये निर्विशेषे ।
प्रविलसति समाधावस्य सर्वो विकल्पो
विलयनमुपगच्छेद्वस्तुतत्त्वावधृत्या ॥३५५॥

अद्वितीय और निर्विशेष परमात्मामें बुद्धिके दोषसे 'तू, मैं, यह'—ऐसी कल्पना होती है और वही सम्पूर्ण विकल्प समाधिमें विघ्नरूपसे स्फुरित होता है; किन्तु तत्त्व-वस्तुका यथावत् ग्रहण होनेसे वह सब लीन हो जाता है ।

शान्तो दान्तः परमुपरतः क्षान्तियुक्तः समाधिं
कुर्वन्नित्यं कलयति यतिः स्वस्य सर्वात्मभावम् ।
तेनाविद्यातिमिरजनितान्साधु दग्ध्वा विकल्पान्
ब्रह्माकृत्या निवसति सुखं निष्क्रियो निर्विकल्पः ॥३५६॥

योगी पुरुष चित्तकी शान्ति, इन्द्रियनिग्रह, विषयोंसे उपरति और क्षमासे युक्त होकर समाधिका निरन्तर अभ्यास करता हुआ अपने सर्वात्मभावका अनुभव करता है और उसके द्वारा अविद्या-रूप अन्धकारसे उत्पन्न हुए समस्त विकल्पोंका भलीभाँति ध्वंस

करके निष्क्रिय और निर्विकल्प होकर आनन्दपूर्वक ब्रह्माकार-वृत्तिसे रहता है।

समाहिता ये प्रविलाप्य बाह्यं
श्रोत्रादि चेतः स्वमहं चिदात्मनि।
त एव मुक्ता भवपाशबन्धै-
र्नान्ये तु पारोक्ष्यकथाभिधायिनः ॥३५७॥

जो लोग श्रोत्रादि इन्द्रियवर्ग तथा चित्त और अहंकार इन बाह्य वस्तुओंको आत्मामें लीन करके समाधिमें स्थित होते हैं वे ही संसार-बन्धनसे मुक्त हैं, जो केवल परोक्ष ब्रह्मज्ञानकी बातें बनाते रहते हैं वे कभी मुक्त नहीं हो सकते।

उपाधिभेदात्स्वयमेव भिद्यते
चोपाध्यपोहे स्वयमेव केवलः।
तस्मादुपाधेर्विलयाय विद्वा-
न्वसेत्सदाकल्पसमाधिनिष्ठया ॥३५८॥

उपाधिके भेदसे ही आत्मामें भेदकी प्रतीति होती है और उपाधिका लय हो जानेपर वह केवल स्वयं ही रह जाता है, इसलिये उपाधिका लय करनेके लिये विचारवान् पुरुष सदा निर्विकल्प-समाधिमें स्थित होकर रहे।

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया।
कीटको भ्रमरं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते ॥३५९॥

एकाग्रचित्तसे निरन्तर सत्स्वरूप ब्रह्ममें स्थित रहनेसे मनुष्य ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, जैसे भ्रमरका भयपूर्वक ध्यान करते-करते कीड़ा भ्रमरस्वरूप ही हो जाता है।

क्रियान्तरासक्तिमपास्य कीटको
ध्यायन्यथालिं ह्यलिभावमृच्छति ।
तथैव योगी परमात्मतत्त्वं
ध्यात्वा समायाति तदेकनिष्ठया ॥३६०॥

जिस प्रकार अन्य समस्त क्रियाओंकी आसक्तिको छोड़कर केवल भ्रमरका ही ध्यान करते-करते कीड़ा भ्रमररूप हो जाता है उसी प्रकार योगी एकनिष्ठ होकर परमात्मतत्त्वका चिन्तन करते-करते परमात्मभावको ही प्राप्त हो जाता है ।

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं
न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति ।
समाधिनात्यन्तसुसूक्ष्मवृत्त्या
ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः ॥३६१॥

परमात्म-तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे स्थूल दृष्टिसे कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिये अति शुद्ध बुद्धिवाले सत्पुरुषोंको उसे समाधिद्वारा अति सूक्ष्मवृत्तिसे जानना चाहिये ।

यथा सुवर्णं पुटपाकशोधितं
त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति ।
तथा मनः सत्त्वरजस्तमोमलं
ध्यानेन सन्त्यज्य समेति तत्त्वम् ॥३६२॥

जिस प्रकार [अग्निमें] पुटपाक-विधिसे शोधा हुआ सोना सम्पूर्ण मलको त्यागकर अपने स्वाभाविक स्वरूपको प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार मन ध्यानके द्वारा सत्त्व-रज-तमरूप मलको त्यागकर आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है ।

निरन्तराभ्यासवशात्तदित्थं
पक्वं मनो ब्रह्मणि लीयते यदा ।
तदा समाधिः स विकल्पवर्जितः
स्वतोऽद्वयानन्दरसानुभावकः ॥३६३॥

जिस समय रात-दिनके निरन्तर अभ्याससे परिपक्व होकर मन ब्रह्ममें लीन हो जाता है उस समय अद्वितीय ब्रह्मानन्दरसका अनुभव करानेवाली वह निर्विकल्प-समाधि स्वयं ही सिद्ध हो जाती है।

समाधिनानेन समस्तवासना-
ग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः ।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा
स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ॥३६४॥

इस निर्विकल्प-समाधिसे समस्त वासना-ग्रन्थियोंका नाश हो जाता है तथा वासनाओंके नाशसे सम्पूर्ण कर्मोंका भी नाश हो जाता है और फिर बाहर-भीतर सर्वत्र बिना प्रयत्नके ही निरन्तर स्वरूपकी स्फूर्ति होने लगती है।

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि ।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ॥३६५॥

वेदान्तके श्रवणमात्रसे उसका मनन करना सौगुना अच्छा है और मननसे भी लाखगुना श्रेयस्कर निदिध्यासन (आत्मभावना-को अपने चित्तमें स्थिर करना) है। तथा निदिध्यासनसे भी अनन्तगुना निर्विकल्प-समाधिका महत्त्व है [जिससे चित्त फिर आत्मस्वरूपसे कभी चलायमान ही नहीं होता]।

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं
ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
नान्यथा चलतया मनोगतेः
प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ॥३६६॥

निर्विकल्प समाधिके द्वारा निश्चय ही ब्रह्मतत्त्वका स्पष्ट ज्ञान होता है; और किसी प्रकार वैसा बोध नहीं हो सकता; क्योंकि अन्य अवस्थाओंमें चित्तवृत्तिके चञ्चल रहनेसे उसमें अन्यान्य प्रतीतियोंका भी मेल रहता है ।

अतः समाधत्स्व यतेन्द्रियः सदा
निरन्तरं शान्तमनाः प्रतीचि ।
विध्वंसय ध्वान्तमनाद्यविद्यया
कृतं सदेकत्वविलोकनेन ॥३६७॥

इसलिये सदा संयतेन्द्रिय होकर शान्त मनसे निरन्तर प्रत्यगात्मा ब्रह्ममें चित्त स्थिर करो और सच्चिदानन्द ब्रह्मके साथ अपना ऐक्य देखते हुए अनादि अविद्यासे उत्पन्न अज्ञानान्धकारका ध्वंस करो ।

योगस्य प्रथमं द्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः ।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता ॥३६८॥

वाणीको रोकना, द्रव्यका संग्रह न करना, लौकिक पदार्थोंकी आशा छोड़ना, कामनाओंका त्याग करना और नित्य एकान्तमें रहना—ये सब योगका पहला द्वार हैं ।

एकान्तस्थितिरिन्द्रियोपरमणे हेतुर्दमश्चेतसः
संरोधे करणं शमेन विलयं यायादहंवासना ।
तेनानन्दरसानुभूतिरचला ब्राह्मी सदा योगिन-
स्तस्माच्चित्तनिरोध एव सततं कार्यः प्रयत्नान्मुनेः ॥३६९॥

एकान्तमें रहना इन्द्रिय-दमनका कारण है, इन्द्रिय-दमन चित्तके निरोधका कारण है और चित्त-निरोधसे वासनाका नाश होता है तथा वासनाके नष्ट हो जानेसे योगीको ब्रह्मानन्दरसका अविचल अनुभव होता है; इसलिये मुनिको सदा प्रयत्नपूर्वक चित्तका निरोध ही करना चाहिये ।

वाचं नियच्छात्मनि तं नियच्छ
बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणी ।
तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे
विलाप्य शान्तिं परमां भजस्व ॥३७०॥

वाणीको मनमें लय करो, मनको बुद्धिमें और बुद्धिको बुद्धि-के साक्षी आत्मामें, तथा बुद्धि-साक्षी (कूटस्थ) को निर्विकल्प पूर्णब्रह्ममें लय करके परमशान्तिका अनुभव करो ।

देहप्राणेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभिरुपाधिभिः ।
यैर्यैर्वृत्तेः समायोगस्तत्तद्भावोऽस्य योगिनः ॥३७१॥

देह, प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन उपाधियोंमेंसे जिस-जिसके साथ योगीकी चित्त-वृत्तिका संयोग होता है उसी-उसी भावकी उसको प्राप्ति होती है ।

तन्निवृत्त्या मुनेः सम्यक्सर्वोपरमणं सुखम् ।
संदृश्यते सदानन्दरसानुभवविप्लवः ॥३७२॥

जब उस मुनिका चित्त इन सब उपाधियोंसे निवृत्त हो जाता है तो उसको पूर्ण उपरतिका आनन्द स्पष्टतया प्रतीत होने लगता है। जिससे उसके चित्तमें सच्चिदानन्दरसानुभवकी बाढ़ आने लगती है।

वैराग्य-निरूपण

अन्तस्त्यागो बहिस्त्यागो विरक्तस्यैव युज्यते ।
त्यजत्यन्तर्बहिःसङ्गं विरक्तस्तु मुमुक्षया ॥३७३॥

विरक्त पुरुषका ही आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकारका त्याग करना ठीक है। वही मोक्षकी इच्छासे आन्तरिक और बाह्य संग त्याग देता है।

बहिस्तु विषयैः सङ्गं तथान्तरहमादिभिः ।
विरक्त एव शक्नोति त्यक्तुं ब्रह्मणि निष्ठितः ॥३७४॥

इन्द्रियोंका विषयोंके साथ बाह्य संग और अहंकारादिके साथ आन्तरिक संग—इन दोनोंका ब्रह्मनिष्ठ विरक्त पुरुष ही त्याग कर सकता है।

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत्
पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम् ।
विमुक्तिसौधाग्रतलाधिरोहणं
ताभ्यां विना नान्यतरेण सिध्यति ॥३७५॥

हे विद्वन् ! वैराग्य और बोध इन दोनोंको पक्षीके दोनों पंखोंके समान मोक्षकामी पुरुषके पंख समझो । इन दोनोंमेंसे किसी भी एकके बिना केवल एक ही पंखके द्वारा कोई मुक्तिरूपी महलकी अटारीपर नहीं चढ़ सकता [अर्थात् मोक्षप्राप्तिके लिये वैराग्य और बोध दोनोंकी ही आवश्यकता है] ।

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः
समाहितस्यैव दृढप्रबोधः ।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्ति-
र्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ॥३७६॥

अत्यन्त वैराग्यवान्को ही समाधि-लाभ होता है, समाधिस्थ पुरुषको ही दृढ़ बोध होता है तथा सुदृढ़ बोधवान्का ही संसार-बन्धन छूटता है और जो संसार-बन्धनसे छूट गया है उसीको नित्यानन्दका अनुभव होता है ।

वैराग्यान्न परं सुखस्य जनकं पश्यामि वश्यात्मन-
स्तच्चेच्छुद्धतरात्मबोधसहितं स्वाराज्यसाम्राज्यधुक् ।
एतद्द्वारमजस्रमुक्तियुवतेर्यस्मात्त्वमस्मात्परं
सर्वत्रास्पृहया सदात्मनि सदा प्रज्ञां कुरु श्रेयसे ॥३७७॥

जितेन्द्रिय पुरुषके लिये वैराग्यसे बढ़कर सुखदायक मुझे और कुछ भी प्रतीत नहीं होता और वह यदि कहीं शुद्ध आत्म-ज्ञानके सहित हो तब तो स्वर्गीय साम्राज्यके सुखका देनेवाला होता है । यह मुक्तिरूप कामिनीका निरन्तर खुला हुआ द्वार है; इसलिये हे वत्स ! तुम अपने कल्याणके लिये सब ओरसे इच्छारहित होकर सदा सच्चिदानन्द ब्रह्ममें ही अपनी बुद्धि स्थिर करो ।

आशां छिन्धि विषोपमेषु विषयेष्वेषैव मृत्योः सृति-
स्त्यक्त्वा जातिकुलाश्रमेष्वभिमतिं मुञ्चातिदूरात्क्रियाः ।
देहादावसति त्यजात्मधिषणां प्रज्ञां कुरुष्वात्मनि
त्वं द्रष्टास्यमलोऽसि निर्द्वयपरं ब्रह्मासि यद्वस्तुतः ॥३७८॥

विषके समान विषम विषयोंकी आशाको छोड़ दो, क्योंकि यह [स्वरूपविस्मृतिरूप] मृत्युका मार्ग है तथा जाति, कुल और आश्रम आदिका अभिमान छोड़कर दूरसे ही कर्मोंको नमस्कार कर दो । देह आदि असत् पदार्थोंमें आत्मबुद्धिको छोड़ो और आत्मामें अहंबुद्धि करो; क्योंकि तुम तो वास्तवमें इन सबके द्रष्टा और मल तथा द्वैतसे रहित जो परब्रह्म है, वही हो ।

ध्यान-विधि

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढतरं संस्थाप्य बाह्येन्द्रियं
स्वस्थाने विनिवेश्य निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य देहस्थितिम् ।
ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य तन्मयतया चाखण्डवृत्त्यानिशं
ब्रह्मानन्दरसं पिबात्मनि मुदा शून्यैः किमन्यैर्भ्रमैः ॥३७९॥

चित्तको अपने लक्ष्य ब्रह्ममें दृढतापूर्वक स्थिरकर बाह्य इन्द्रियोंको [उनके विषयोंसे हटाकर] अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर करो, शरीरको निश्चल रखो और उसकी स्थितिकी ओर ध्यान मत दो । इस प्रकार ब्रह्म और आत्माकी एकता करके तन्मयभावसे अखण्ड-वृत्तिसे अहर्निश मन-ही-मन आनन्दपूर्वक ब्रह्मानन्दरसका पान करो और थोथी बातोंसे क्या लेना है ?

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम् ।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ॥३८०॥

दुःखके कारण और मोहरूप अनात्म-चिन्तनको छोड़कर आनन्दस्वरूप आत्माका चिन्तन करो, जो साक्षात् मुक्तिका कारण है ।

एष स्वयंज्योतिरशेषसाक्षी
विज्ञानकोशे विलसत्यजस्रम् ।
लक्ष्यं विधायैनमसद्विलक्षण-
मखण्डवृत्त्यात्मतयानुभावय ॥३८१॥

यह जो स्वयंप्रकाश सबका साक्षी निरन्तर विज्ञानमय कोशमें विराजमान है, समस्त अनित्य पदार्थोंसे पृथक् इस परमात्माको ही अपना लक्ष्य बनाकर इसीका [तैलधारावत्] अखण्ड-वृत्तिसे, आत्म-भावसे चिन्तन करो ।

एतमच्छिन्नया वृत्त्या प्रत्ययान्तरशून्यया ।
उल्लेखयन्विजानीयात्स्वस्वरूपतया स्फुटम् ॥३८२॥

अन्य प्रतीतियोंसे रहित अखण्ड-वृत्तिसे इस एकहीका चिन्तन करते हुए योगी इसीको स्पष्टतया अपना स्वरूप जाने ।

अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु सन्त्यजन् ।
उदासीनतया तेषु तिष्ठेद् घटपटादिवत् ॥३८३॥

इस प्रकार इस परमात्मामें ही आत्मभावको दृढ़ करता हुआ और अहंकारादिमें आत्मबुद्धि छोड़ता हुआ उनकी ओरसे शरीरसे भिन्न घट-पट आदि वस्तुओंके समान उदासीन हो जाय ।

आत्म-दृष्टि

विशुद्धमन्तःकरणं स्वरूपे
निवेश्य साक्षिण्यवबोधमात्रे ।
शनैः शनैर्निश्चलतामुपानयन्
पूर्णं स्वमेवानुविलोकयेत्ततः ॥३८४॥

सबके साक्षी और ज्ञानस्वरूप आत्मामें अपने शुद्ध चित्तको लगाकर धीरे-धीरे निश्चलता प्राप्त करता हुआ अन्तमें सर्वत्र अपनेहीको परिपूर्ण देखे ।

देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादिभिः
स्वाज्ञानक्लृप्तैरखिलैरुपाधिभिः ।
विमुक्तमात्मानमखण्डरूपं
पूर्णं महाकाशमिवावलोकयेत् ॥३८५॥

अपने अज्ञानसे कल्पित देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और अहंकार आदि समस्त उपाधियोंसे रहित अखण्ड आत्माको महाकाशकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण देखे ।

घटकलशकुशूलसूचिमुख्यै-
र्गगनमुपाधिशतैर्विमुक्तमेकम् ।
भवति न विविधं तथैव शुद्धं
परमहमादिविमुक्तमेकमेव ॥३८६॥

जिस प्रकार आकाश घट, कलश, कुशूल (अनाजका कोठा), सूची (सुई) आदि सैकड़ों उपाधियोंसे रहित एक ही रहता है; नाना

उपाधियोंके कारण वह नाना नहीं हो जाता । उसी प्रकार अहंकारादि उपाधियोंसे रहित एक ही शुद्ध परमात्मा है ।

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता मृषामात्रा उपाधयः ।
ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम् ॥३८७॥

ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब (तृण) पर्यन्त समस्त उपाधियाँ मिथ्या हैं इसलिये अपनेको सदा एकरूपसे स्थित परिपूर्ण आत्मस्वरूप देखना चाहिये ।

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं यद्विवेके
तत्तन्मात्रं नैव तस्माद्विभिन्नम् ।
भ्रान्तेर्नाशे भ्रान्तिदृष्टाहितत्त्वं
रज्जुस्तद्वद्विश्वमात्मस्वरूपम् ॥३८८॥

जिस वस्तुकी जहाँ (जिस आधारमें) भ्रमसे कल्पना हो जाती है उस आधारका ठीक-ठीक ज्ञान हो जानेपर वह कल्पित वस्तु तद्रूप ही निश्चित होती है, उससे पृथक् उसकी सत्ता सिद्ध नहीं होती । जिस प्रकार भ्रान्तिके नष्ट होनेपर रज्जुमें भ्रान्तिवश प्रतीत होनेवाला सर्प रज्जुरूप ही प्रत्यक्ष होता है वैसे ही अज्ञानके नष्ट होनेपर सम्पूर्ण विश्व आत्मस्वरूप ही जान पड़ता है ।

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः ।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ॥३८९॥

स्वयं आत्मा ही ब्रह्मा, वही विष्णु, वही इन्द्र, वही शिव और वही यह सारा विश्व है, आत्मासे भिन्न और कुछ भी नहीं है ।

अन्तः स्वयं चापि बहिः स्वयं च
स्वयं पुरस्तात्स्वयमेव पश्चात् ।
स्वयं ह्यवाच्यां स्वयमप्युदीच्यां
तथोपरिष्टात्स्वयमप्यधस्तात् ॥३९०॥

आप ही भीतर है, आप ही बाहर है, आप ही आगे है, आप ही पीछे है, आप ही दायें है, आप ही बायें है और आप ही ऊपर है, आप ही नीचे है ।

तरङ्गफेनभ्रमबुद्बुदादि
सर्वं स्वरूपेण जलं यथा तथा ।
चिदेव देहाद्यहमन्तमेतत्
सर्वं चिदेवैकरसं विशुद्धम् ॥३९१॥

जैसे तरङ्ग, फेन, भँवर और बुद्बुद आदि स्वरूपसे सब जल ही हैं, वैसे ही देहसे लेकर अहंकारपर्यन्त यह सारा विश्व भी अखण्ड शुद्धचैतन्य आत्मा ही है ।

सदेवेदं सर्वं जगदवगतं वाङ्मनसयोः
सतोऽन्यन्नास्त्येव प्रकृतिपरसीम्नि स्थितवतः ।
पृथक् किं मृत्स्नायाः कलशघटकुम्भाद्यवगतं
वदत्येष भ्रान्तस्त्वमहमिति मायामदिरया ॥३९२॥

मन और वाणीसे प्रतीत होनेवाला यह सारा जगत् सत्स्वरूप ही है, जो महापुरुष प्रकृतिसे परे आत्मस्वरूपमें स्थित है उसकी दृष्टिमें सत्से पृथक् और कुछ भी नहीं है। मिट्टीसे पृथक् घट, कलश और कुम्भ आदि क्या हैं ? मनुष्य मायामयी मदिरासे उन्मत्त होकर ही 'मैं, तू'—ऐसी भेदबुद्धियुक्त वाणी बोलता है ।

क्रियासमभिहारेण यत्र नान्यदिति श्रुतिः ।
ब्रवीति द्वैतराहित्यं मिथ्याध्यासनिवृत्तये ॥३९३॥

कार्यरूप द्वैतका उपसंहार करते हुए 'जहाँ और कुछ नहीं देखता' ऐसी अद्वैतपरक श्रुति* मिथ्या अध्यासकी निवृत्तिके लिये बारंबार द्वैतका अभाव बतलाती है ।

आकाशवन्निर्मलनिर्विकल्प-
निःसीमनिष्पन्दननिर्विकारम् ।
अन्तर्बहिःशून्यमनन्यमद्वयं
स्वयं परं ब्रह्म किमस्ति बोध्यम् ॥३९४॥

जो परब्रह्म स्वयं आकाशके समान निर्मल, निर्विकल्प, निःसीम, निश्चल, निर्विकार, बाहर-भीतर सब ओरसे शून्य, अनन्य और अद्वितीय है वह क्या ज्ञानका विषय हो सकता है ?

वक्तव्यं किमु विद्यतेऽत्र बहुधा ब्रह्मैव जीवः स्वयं
ब्रह्मैतज्जगदाततं नु सकलं ब्रह्माद्वितीयं श्रुतेः ।
ब्रह्मैवाहमिति प्रबुद्धमतयः सन्त्यक्तबाह्याः स्फुटं
ब्रह्मीभूय वसन्ति सन्ततचिदानन्दात्मनैव ध्रुवम् ॥३९५॥

इस विषयमें और अधिक क्या कहना है ? जीव तो स्वयं ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत्-रूपसे फैला हुआ है, क्योंकि श्रुति

* 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा'
(छान्दोग्य० ७ । २४ । १)

भी कहती है कि ब्रह्म अद्वितीय है। और यह निश्चय है, जिनको यह बोध हुआ है कि मैं ब्रह्म ही हूँ वे बाह्य विषयोंको सर्वथा त्यागकर ब्रह्मभावसे सदा सच्चिदानन्दस्वरूपसे ही स्थित रहते हैं।

जहि मलमयकोशेऽहंधियोत्थापिताशां
प्रसभमनिलकल्पे लिङ्गदेहेऽपि पश्चात्।
निगमगदितकीर्तिं नित्यमानन्दमूर्तिं
स्वयमिति परिचीय ब्रह्मरूपेण तिष्ठ ॥३९६॥

इस मलमय कोशमें अहंबुद्धिसे हुई आसक्तिको छोड़ो और इसके पश्चात् वायुरूप लिङ्गदेहमें भी उसका दृढ़तापूर्वक त्याग करो, तथा जिसकी कीर्तिका वेद बखान करते हैं उस आनन्दस्वरूप ब्रह्मको ही अपना स्वरूप जानकर सदा ब्रह्मरूपसे ही स्थिर होकर रहो।

शवाकारं यावद्भजति मनुजस्तावदशुचिः
परेभ्यः स्यात्क्लेशो जननमरणव्याधिनिलयः।
यदात्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलं
तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि ॥३९७॥

श्रुति भी यही कहती है कि मनुष्य जबतक इस मृतकतुल्य देहमें आसक्त रहता है तबतक वह अत्यन्त अपवित्र रहता है और जन्म, मरण तथा व्याधियोंका आश्रय बना रहकर उसको दूसरोंसे अत्यन्त क्लेश भोगना पड़ता है। किन्तु जब वह अपने कल्याणस्वरूप, अचल और शुद्ध आत्माका साक्षात्कार कर लेता है तो उन समस्त क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है।

प्रपञ्चका बाध

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः ।
स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥३९८॥

अपने आत्मामें आरोपित समस्त कल्पित वस्तुओंका निरास कर देनेपर मनुष्य स्वयं अद्वितीय, अक्रिय और पूर्ण परब्रह्म ही है ।

समाहितायां सति चित्तवृत्तौ
परात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे ।
न दृश्यते कश्चिदयं विकल्पः
प्रजल्पमात्रः परिशिष्यते ततः ॥३९९॥

निर्विकल्प परमात्मा परब्रह्ममें चित्तवृत्तिके स्थिर हो जानेपर यह दृश्य विकल्प कहीं भी दिखायी नहीं देता । उस समय यह केवल वाचारम्भण (वाणीकी बकवाद) मात्र ही रह जाता है ।

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥४००॥

उस एक वस्तु ब्रह्ममें यह संसार मिथ्या वस्तुके सदृश कल्पनामात्र है । भला निर्विकार, निराकार और निर्विशेष वस्तुमें भेद कहाँसे आया ?

द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभावशून्यैकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥४०१॥

उस द्रष्टा, दृश्य और दर्शन आदि भावोंसे शून्य, निर्विकार, निराकार और निर्विशेष एक वस्तुमें भला भेद कहाँसे आया ?

कल्पार्णव इवात्यन्तपरिपूर्णैकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥४०२॥

प्रलयकालके समुद्रके समान अत्यन्त परिपूर्ण एक पदार्थमें जो निर्विकार, निराकार और निर्विशेष है, भला भेद कहाँसे आ गया ?

तेजसीव तमो यत्र प्रलीनं भ्रान्तिकारणम् ।
अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥४०३॥

प्रकाशमें जैसे अन्धकार लीन हो जाता है वैसे ही जिसमें भ्रमका कारण अज्ञान लीन होता है उस अद्वितीय और निर्विशेष परमतत्त्वमें भला भेद कहाँसे आ गया ?

एकात्मके परे तत्त्वे भेदवार्ता कथं भवेत् ।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः ॥४०४॥

एकात्मक अद्वितीय परमतत्त्वमें भला भेदकी बात ही क्या हो सकती है ? केवल सुखस्वरूपा सुषुप्तिमें किसने विभिन्नता देखी है ?

न ह्यस्ति विश्वं परतत्त्वबोधात्
सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे ।
कालत्रये नाप्यहिरीक्षितो गुणे
न ह्यम्बुबिन्दुर्मृगतृष्णिकायाम् ॥४०५॥

परमतत्त्वके जान लेनेपर सत्स्वरूप निर्विकल्प परब्रह्ममें विश्वका कहीं पता भी नहीं चलता; तीनों कालमें भी कभी किसीने रज्जुमें सर्प और मृगतृष्णामें जलकी बूँद नहीं देखी ।

मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ।
इति ब्रूते श्रुतिः साक्षात्सुषुप्तावनुभूयते ॥४०६॥

श्रुति साक्षात् कहती है कि यह द्वैत मायामात्र है, वास्तवमें तो अद्वैत ही है; और ऐसा ही सुषुप्तिमें अनुभव भी होता है ।

अनन्यत्वमधिष्ठानादारोप्यस्य निरीक्षितम् ।
पण्डितै रज्जुसर्पादौ विकल्पो भ्रान्तिजीवनः ॥४०७॥

रज्जु-सर्प आदिमें बुद्धिमान् पुरुषोंने अध्यस्त वस्तुका अधिष्ठान-से अभेद स्पष्ट देखा है; इसलिये [ब्रह्ममें अध्यस्त यह संसाररूप] विकल्प अज्ञानजन्य भ्रमके कारण ही जीवित (स्थित) है ।

आत्मचिन्तनका विधान

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन ।
अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि ॥४०८॥

यह विकल्प चित्तमूलक है । चित्तका अभाव होनेपर इसका कहीं नाम-निशान भी नहीं रहता । इसलिये चित्तको प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप आत्मामें स्थिर करो ।

किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं
निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम् ।
निरवधि गगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं
हृदि कलयति विद्वान्ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥४०९॥

किसी नित्यबोधस्वरूप, केवलानन्दरूप, उपमारहित, कालातीत, नित्यमुक्त, निश्चेष्ट, आकाशके समान निःसीम, कला-

रहित निर्विकल्प पूर्ण ब्रह्मका विद्वान् समाधि-अवस्थामें अपने अन्तः-करणमें साक्षात् अनुभव करते हैं ।

प्रकृतिविकृतिशून्यं भावनातीतभावं
समरसमसमानं मानसम्बन्धदूरम् ।
निगमवचनसिद्धं नित्यमस्मत्प्रसिद्धं
हृदि कलयति विद्वान्ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥४१०॥

कारण और कार्यसे रहित, मानवी भावनासे अतीत, समरस, उपमारहित, प्रमाणोंकी पहुँचसे परे, वेद-वाक्योंसे सिद्ध, नित्य, अस्मत् (मैं) रूपसे स्थित पूर्ण ब्रह्मका विद्वान् समाधि-अवस्थामें अपने अन्तःकरणमें अनुभव करते हैं ।

अजरममरमस्ताभासवस्तुस्वरूपं
स्तिमितसलिलराशिप्रख्यमाख्याविहीनम् ।
शमितगुणविकारं शाश्वतं शान्तमेकं
हृदि कलयति विद्वान्ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥४११॥

अजर, अमर, आभासशून्य, वस्तुस्वरूप, निश्चल जल-राशिके समान, नाम-रूपसे रहित, गुणोंके विकारसे शून्य, नित्य, शान्त-स्वरूप और अद्वितीय पूर्ण ब्रह्मका विद्वान् समाधि-अवस्थामें हृदयमें साक्षात् अनुभव करते हैं ।

समाहितान्तःकरणः स्वरूपे
विलोकयात्मानमखण्डवैभवम् ।
विच्छिन्धि बन्धं भवगन्धगन्धितं
यत्नेन पुंस्त्वं सफलीकुरुष्व ॥४१२॥

अपने स्वरूपमें चित्तको स्थिर करके अखण्ड ऐश्वर्यसम्पन्न आत्माका साक्षात्कार करो, संसार-गन्धसे युक्त बन्धनको काट डालो और यत्नपूर्वक अपने मनुष्य-जन्मको सफल करो ।

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
भावयात्मानमात्मस्थं न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥४१३॥

समस्त उपाधियोंसे रहित अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप अपने अन्तःकरणमें स्थित आत्माका चिन्तन करते रहो; इससे तुम फिर संसार-चक्रमें नहीं पड़ोगे ।

दृश्यकी उपेक्षा

छायेव पुंसः परिदृश्यमान-
माभासरूपेण फलानुभूत्या ।
शरीरमाराच्छववन्निरस्तं
पुनर्न सन्धत्त इदं महात्मा ॥४१४॥

मनुष्यकी छायाके समान केवल आभासरूपसे दिखलायी देनेवाले, इस शरीरका इसके फलका विचार करके, शवके समान एक बार बाध कर देनेपर महात्मागण इसे फिर स्वीकार नहीं करते ।

सततविमलबोधानन्दरूपं समेत्य
त्यज जडमलरूपोपाधिमेतं सुदूरे ।
अथ पुनरपि नैष स्मर्यतां वान्तवस्तु
स्मरणविषयभूतं कल्पते कुत्सनाय ॥४१५॥

अपने नित्य और निर्मल चिदानन्दमय स्वरूपको प्राप्त करके इस मलरूप जड उपाधिको दूरहीसे सर्वथा त्याग दो और फिर

कभी इसकी याद भी मत करो, क्योंकि उगली हुई वस्तु तो याद करनेपर उलटी जी बिगाड़नेवाली ही होती है।

समूलमेतत्परिदह्य वह्नौ
सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे ।
ततः स्वयं नित्यविशुद्धबोधा-
नन्दात्मना तिष्ठति विद्वरिष्ठः ॥४१६॥

विचारवानोंमें श्रेष्ठ महात्माजन इस स्थूल-सूक्ष्म जगत्को इसके मूल-कारण मायाके सहित निर्विकल्प सत्स्वरूप ब्रह्माग्निमें भस्म करके फिर स्वयं नित्य विशुद्ध बोधानन्दस्वरूपसे स्थित रहते हैं।

प्रारब्धसूत्रग्रथितं शरीरं
प्रयातु वा तिष्ठतु गोरिव स्रक् ।
न तत्पुनः पश्यति तत्त्ववेत्ता-
नन्दात्मनि ब्रह्मणि लीनवृत्तिः ॥४१७॥

गौ अपने गलेमें पड़ी हुई मालाके रहने अथवा गिरनेकी ओर जैसे कुछ भी ध्यान नहीं देती, इसी प्रकार प्रारब्धकी डोरीमें पिरोया हुआ यह शरीर रहे अथवा जाय, जिसकी चित्तवृत्ति आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें लीन हो गयी है वह तत्त्ववेत्ता फिर इसकी ओर नहीं देखता।

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः ।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति तत्त्ववित् ॥४१८॥

अखण्ड आनन्दस्वरूप आत्माको ही अपना स्वरूप जान लेनेपर किस इच्छा अथवा किस कारणसे तत्त्ववेत्ता इस शरीरका पोषण करे ?

आत्मज्ञानका फल

संसिद्धस्य फलं त्वेतज्जीवन्मुक्तस्य योगिनः ।
बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि ॥४१९॥

आत्मज्ञानमें सम्यक् सिद्धि प्राप्त किये हुए जीवन्मुक्त योगीको यही फल मिलता है कि अपने आत्माके नित्यानन्दरसका बाहर-भीतर निरन्तर आस्वादन किया करे ।

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम् ।
स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम् ॥४२०॥

वैराग्यका फल बोध है और बोधका फल उपरति (विषयोंसे उदासीनता) है तथा उपरतिका फल यही है कि आत्मानन्दके अनुभवसे चित्त शान्त हो जाय ।

यद्युत्तरोत्तराभावः पूर्वपूर्वं तु निष्फलम् ।
निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः ॥४२१॥

यदि पिछली-पिछली वस्तुओंकी प्राप्ति न हो तो पहली बातें निष्फल हैं, [अर्थात् आत्मशान्तिके बिना उपरति, उपरतिके बिना बोध और बोधके बिना वैराग्य निष्फल हैं] विषयोंसे निवृत्त हो जाना ही परम तृप्ति है और वही साक्षात् अनुपम आनन्द है ।

दृष्टदुःखेष्वनुद्वेगो विद्यायाः प्रस्तुतं फलम् ।
यत्कृतं भ्रान्तिवेलायां नाना कर्म जुगुप्सितम् ।
पश्चान्नरो विवेकेन तत्कथं कर्तुमर्हति ॥४२२॥

प्रारब्धवश प्राप्त हुए दुःखोंसे विचलित न होना ही आत्मज्ञानका सबसे पहला फल है । भ्रान्तिके समय पुरुषने जो नाना

प्रकारके निन्दनीय कर्म किये हैं उन्हींको ज्ञान हो जानेके उपरान्त वह विवेकपूर्वक कैसे कर सकता है ?

विद्याफलं स्यादसतो निवृत्तिः
प्रवृत्तिरज्ञानफलं तदीक्षितम् ।
तज्ज्ञाज्ञयोर्यन्मृगतृष्णिकादौ
नो चेद्विदो दृष्टफलं किमस्मात् ॥४२३॥

विद्याका फल असत्से निवृत्त होना और अविद्याका उसमें प्रवृत्त होना है । ये दोनों फल ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषोंकी मृगतृष्णा आदिकी प्रतीतिमें उसे जानने या न जाननेवालोंमें देखे गये हैं । नहीं तो [यदि मूढ पुरुषके समान विद्वान्की भी असत् पदार्थोंमें प्रवृत्ति बनी रही तो] विद्याका प्रत्यक्ष फल ही क्या हुआ ?

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्विनाशो यद्यशेषतः ।
अनिच्छोर्विषयः किन्नु प्रवृत्तेः कारणं स्वतः ॥४२४॥

यदि अज्ञानरूप हृदयकी ग्रन्थिका सर्वथा नाश हो जाय तो उस इच्छारहित पुरुषके लिये सांसारिक विषय क्या स्वतः ही प्रवृत्तिके कारण हो जायँगे ?

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य परोऽवधिः ।
अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमोऽवधिः ।
लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा ॥४२५॥

भोग्य वस्तुओंमें वासनाका उदय न होना वैराग्यकी चरम अवधि है, चित्तमें अहंकारका सर्वथा उदय न होना ही बोधकी चरम सीमा है और लीन हुई वृत्तियोंका पुनः उत्पन्न न होना—यह उपरामताकी सीमा है ।

जीवन्मुक्तके लक्षण

ब्रह्माकारतया सदा स्थिततया निर्मुक्तबाह्यार्थधी-
रन्यावेदितभोग्यभोगकलनो निद्रालुवद्बालवत् ।
स्वप्नालोकितलोकवज्जगदिदं पश्यन्क्वचिल्लब्धधी-
रास्ते कश्चिदनन्तपुण्यफलभुग्धन्यः स मान्यो भुवि ।४२६।

निरन्तर ब्रह्माकारवृत्तिसे स्थित रहनेके कारण जिसकी बुद्धि बाह्य विषयोंमेंसे निकल गयी है और जो निद्रालु अथवा बालकके समान दूसरोंके निवेदन किये हुए ही भोग्य पदार्थोंका सेवन करता है तथा कभी विषयोंमें बुद्धि जानेपर जो इस संसारको स्वप्न-प्रपञ्चके समान देखता है, वह अनन्त पुण्योंके फलका भोगनेवाला कोई ज्ञानी महापुरुष इस पृथ्वीतलमें धन्य है और सबका माननीय है।

स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते ।
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः ॥४२७॥

जो यति परब्रह्ममें चित्तको लीनकर विकार और क्रियाका त्याग करके सदा आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें मग्न रहता है वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनी ।
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते ।
सुस्थिता सा भवेद्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥४२८॥

['*तत्त्वमसि*' आदि महावाक्योंसे] शोधित ब्रह्म और आत्माकी एकताको ग्रहण करनेवाली विकल्परहित चिन्मात्रवृत्तिको प्रज्ञा

कहते हैं। यह चिन्मात्र-वृत्ति जिसकी स्थिर हो जाती है वही जीवन्मुक्त कहा जाता है।

यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४२९॥

जिसकी प्रज्ञा स्थिर है, जो निरन्तर आत्मानन्दका अनुभव करता है और प्रपञ्चको भूला-सा रहता है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है।

लीनधीरपि जागर्ति यो जाग्रद्धर्मवर्जितः।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३०॥

वृत्तिके लीन रहते हुए भी जो जागता रहता है; किन्तु वास्तवमें जो जागृतिके धर्मोंसे रहित है* तथा जिसका बोध सर्वथा वासनारहित है वह पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है।

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चिन्तः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३१॥

जिसकी संसार-वासना शान्त हो गयी है, जो कलावान् होकर भी कलाहीन है अर्थात् व्यवहारदृष्टिमें ऊपरसे विकारवान्

---

*'वृत्तिके लीन रहते हुए भी जो जागता रहता है।' इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि उसका चित्त सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंका बाध करके निरन्तर ब्रह्ममें लीन रहता है तथापि वह सोये हुए पुरुषके समान संज्ञाशून्य नहीं हो जाता, सब व्यवहार यथावत् करता रहता है। किन्तु व्यवहार करते हुए भी उसे स्वप्नवत् समझनेके कारण उसकी अन्य पुरुषोंके समान दृश्य पदार्थोंमें आस्था नहीं होती। इसलिये 'वास्तवमें वह जाग्रतिके धर्मोंसे रहित है।'

प्रतीत होता हुआ भी जो निरन्तर अपने निर्विकार स्वरूपमें ही स्थित रहता है तथा जो चित्तयुक्त होनेपर निश्चिन्त है वह पुरुष जीवन्मुक्त माना जाता है ।

वर्तमानेऽपि देहेऽस्मिञ्छायावदनुवर्तिनि ।
अहंताममताभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३२॥

प्रारब्धकी समाप्तिपर्यन्त छायाके समान सदैव साथ रहनेवाले इस शरीरके वर्तमान रहते हुए भी इसमें अहं-ममभाव (मैं-मेरापन) का अभाव हो जाना जीवन्मुक्तका लक्षण है ।

अतीताननुसन्धानं भविष्यदविचारणम् ।
औदासीन्यमपि प्राप्ते जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३३॥

बीती हुई बातको याद न करना, भविष्यकी चिन्ता न करना और वर्तमानमें प्राप्त हुए सुख-दुःखादिमें उदासीनता—यह जीवन्मुक्तका लक्षण है ।

गुणदोषविशिष्टेऽस्मिन्स्वभावेन विलक्षणे ।
सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३४॥

अपने आत्मस्वरूपसे सर्वथा पृथक् इस गुण-दोषमय संसारमें सर्वत्र समदर्शी होना जीवन्मुक्तका लक्षण है ।

इष्टानिष्टार्थसम्प्राप्तौ समदर्शितयात्मनि ।
उभयत्राविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३५॥

इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें समानभाव रखनेके कारण दोनों ही अवस्थाओंमें चित्तमें कोई भी विकार न होना जीवन्मुक्त पुरुषका लक्षण है ।

ब्रह्मानन्दरसास्वादासक्तचित्ततया यतेः ।
अन्तर्बहिरविज्ञानं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३६॥

ब्रह्मानन्दरसास्वादमें चित्तकी आसक्ति रहनेके कारण बाह्य और आन्तरिक वस्तुओंका कोई ज्ञान न होना जीवन्मुक्त यतिका लक्षण है।

देहेन्द्रियादौ कर्तव्ये ममाहंभाववर्जितः ।
औदासीन्येन यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥४३७॥

देह तथा इन्द्रिय आदिमें और कर्तव्यमें जो ममता और अहंकारसे रहित होकर उदासीनतापूर्वक रहता है वह पुरुष जीवन्मुक्तके लक्षणसे युक्त है।

विज्ञात आत्मनो यस्य ब्रह्मभावः श्रुतेर्बलात् ।
भवबन्धविनिर्मुक्तः स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥४३८॥

जिसने श्रुति-प्रमाणसे अपने आत्माका ब्रह्मत्व जान लिया है और जो संसार-बन्धनसे रहित है वह पुरुष जीवन्मुक्तके लक्षणोंसे सम्पन्न है।

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके ।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३९॥

जिसका देह और इन्द्रिय आदिमें अहंभाव तथा अन्य वस्तुओंमें इदं (यह) भाव कभी नहीं होता वह पुरुष जीवन्मुक्त माना जाता है।

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः ।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४४०॥

जो अपनी तत्त्वावगाहिनी बुद्धिसे आत्मा और ब्रह्म तथा ब्रह्म और संसारमें कोई भेद नहीं देखता वह पुरुष जीवन्मुक्त माना जाता है।

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः ।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४४१॥

साधु पुरुषोंद्वारा इस शरीरके सत्कार किये जानेपर और दुष्टजनोंसे पीड़ित होनेपर भी जिसके चित्तका समानभाव रहता है वह मनुष्य जीवन्मुक्त माना जाता है ।

यत्र प्रविष्टा विषयाः परेरिता
नदीप्रवाहा इव वारिराशौ ।
लिनन्ति सन्मात्रतया न विक्रिया-
मुत्पादयन्त्येष यतिर्विमुक्तः ॥४४२॥

समुद्रमें मिल जानेपर जैसे नदीका प्रवाह समुद्ररूप हो जाता है वैसे ही दूसरोंके द्वारा प्रस्तुत किये विषय आत्मस्वरूप प्रतीत होनेसे जिसके चित्तमें किसी प्रकारका क्षोभ उत्पन्न नहीं करते वह यतिश्रेष्ठ जीवन्मुक्त है ।

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः ।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः ॥४४३॥

ब्रह्मतत्त्वके जान लेनेपर विद्वान्को पूर्ववत् संसारकी आस्था नहीं रहती और यदि फिर भी संसारकी आस्था बनी रही तो समझना चाहिये कि वह तो संसारी ही है । उसे ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान ही नहीं हुआ ।

प्राचीनवासनावेगादसौ संसरतीति चेत् ।
न सदेकत्वविज्ञानान्मन्दीभवति वासना ॥४४४॥

यदि कहो कि पूर्ववासनाकी प्रबलतासे फिर भी इसकी संसारमें प्रवृत्ति रह सकती है, तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मके एकत्वज्ञानसे इसकी वासना क्षीण हो जाती है।

अत्यन्तकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि।
तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनीषिणः ॥४४५॥

जिस प्रकार अत्यन्त कामी पुरुषकी भी कामवृत्ति माताको देखकर कुण्ठित हो जाती है उसी प्रकार पूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्मको जान लेनेपर विद्वान्‌की संसारमें प्रवृत्ति नहीं होती।

प्रारब्ध-विचार

निदिध्यासनशीलस्य बाह्यप्रत्यय ईक्ष्यते।
ब्रवीति श्रुतिरेतस्य प्रारब्धं फलदर्शनात् ॥४४६॥

निदिध्यासनशील (आत्मचिन्तनमें लगे हुए) पुरुषको बाह्य पदार्थोंकी प्रतीति होती देखी जाती है, फल-भोग देखा जानेके कारण श्रुति उसे उसका प्रारब्ध बतलाती है।

सुखाद्यनुभवो यावत्तावत्प्रारब्धमिष्यते।
फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित् ॥४४७॥

[युक्तिसे भी] जबतक सुख-दुःख आदिका अनुभव है तबतक प्रारब्ध माना जाता है, क्योंकि फलका भोग क्रिया-पूर्वक होता है, बिना कर्मके कहीं नहीं होता।

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटिशतार्जितम्।
सञ्चितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत् ॥४४८॥

जग जानेपर जैसे स्वप्नावस्थाके कर्म लीन हो जाते हैं वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान होते ही करोड़ों कल्पोंके सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

यत्कृतं स्वप्नवेलायां पुण्यं वा पापमुल्बणम् ।
सुप्तोत्थितस्य किं तत्स्यात्स्वर्गाय नरकाय वा ॥४४९॥

स्वप्नावस्थामें जो बड़े-से-बड़ा पुण्य अथवा पाप किया जाता है, क्या जग पड़नेपर वह स्वर्ग अथवा नरककी प्राप्तिका कारण हो सकता है ?

स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा ।
न श्लिष्यते यतिः किञ्चित्कदाचिद्भाविकर्मभिः ॥४५०॥

जो यति अपनेको आकाशके समान असङ्ग और उदासीन जान लेता है वह किसी भी आगामी कर्मसे कभी थोड़ा-सा भी लिप्त नहीं हो सकता ।

न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते ।
तथात्मोपाधियोगेन तद्धर्मैर्नैव लिप्यते ॥४५१॥

जैसे घड़ेके सम्बन्धसे घड़ेमें रक्खी हुई मदिराकी गन्धसे आकाशका कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार उपाधिके सम्बन्धसे आत्मा उपाधिके धर्मोंसे लिप्त नहीं होता ।

ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति ।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् ॥४५२॥
व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ॥४५३॥

लक्ष्यकी ओर छोड़ दिये गये बाणके समान ज्ञानके उदयसे पूर्व ही आरम्भ हुआ कर्म अपना फल दिये विना ज्ञानसे नष्ट नहीं होता, जैसे व्याघ्र समझकर गौकी ओर छोड़ा हुआ बाण पीछे उसको गौ जान लेनेपर भी बीचमें नहीं रोका जा सकता, वह तो तुरंत अपने लक्ष्यको वेध ही देता है ।

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्सञ्चितागामिनाम् ।
ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा संस्थिता-
स्तेषां तत्त्रितयं न हि क्वचिदपि ब्रह्मैव ते निर्गुणम् ॥४५४॥

विद्वान्‌का प्रारब्ध-कर्म अवश्य ही बलवान् होता है । उसका क्षय भोगनेसे ही हो सकता है । उसके अतिरिक्त पूर्वसञ्चित और आगामी कर्मोंका तो तत्त्वज्ञानरूप अग्निसे क्षय हो जाता है; किन्तु जो ब्रह्म और आत्माकी एकताको जानकर सदा उसी भावमें स्थित रहते हैं उनकी दृष्टिमें तो वे (प्रारब्ध, सञ्चित और आगामी) तीनों प्रकारके ही कर्म कहीं नहीं हैं, वे तो मानो साक्षात् निर्गुण ब्रह्म ही हैं ।

उपाधितादात्म्यविहीनकेवल-
ब्रह्मात्मनैवात्मनि तिष्ठतो मुनेः ।
प्रारब्धसद्भावकथा न युक्ता
स्वप्नार्थसम्बन्धकथेव जाग्रतः ॥४५५॥

जो मुनिश्रेष्ठ उपाधिके सम्बन्धको छोड़कर केवल ब्रह्मात्म-भावसे ही अपने स्वरूपमें स्थित रहता है उसके प्रारब्ध-कर्मोंकी

स्थितिकी बात स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंसे जगे हुए पुरुषका सम्बन्ध बतानेके समान अनुचित है ।

न हि प्रबुद्धः प्रतिभासदेहे
देहोपयोगिन्यपि च प्रपञ्चे ।
करोत्यहन्तां ममतामिदन्तां
किन्तु स्वयं तिष्ठति जागरेण ॥४५६॥

जगा हुआ पुरुष स्वप्नके प्रातिभासिक देह तथा उस देहके उपयोगी स्वप्न-प्रपञ्चमें कभी अहंता, ममता और इदंता (मैंपन, मेरापन और यहपन) नहीं करता । वह तो केवल जाग्रत्-भावसे ही रहता है ।

न तस्य मिथ्यार्थसमर्थनेच्छा
न सङ्ग्रहस्तज्जगतोऽपि दृष्टः ।
तत्रानुवृत्तिर्यदि चेन्मृषार्थे
न निद्रया मुक्त इतीष्यते ध्रुवम् ॥४५७॥

उसको न तो मिथ्या वस्तुओंको सिद्ध करनेकी इच्छा होती है और न उसके पास सांसारिक पदार्थोंका संग्रह ही देखा जाता है । यदि फिर भी उसकी मिथ्या पदार्थोंमें प्रवृत्ति रहे तो यह निश्चय है कि वास्तवमें उसकी नींद टूटी ही नहीं है ।

तद्वत्परे ब्रह्मणि वर्तमानः
सदात्मना तिष्ठति नान्यदीक्षते ।
स्मृतिर्यथा स्वप्नविलोकितार्थे
तथा विदः प्राशनमोचनादौ ॥४५८॥

इसी प्रकार सदा ब्रह्मभावमें रहनेवाला पुरुष ब्रह्मरूपसे ही स्थित रहता है वह [ब्रह्मके सिवा] और कुछ नहीं देखता । जैसे स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंकी याद आया करती है वैसे ही विद्वान्‌की भोजन करना और छोड़ना आदि क्रियाएँ स्वभाववश अपने आप हुआ करती हैं ।

कर्मणा निर्मितो देहः प्रारब्धं तस्य कल्प्यताम् ।
नानादेरात्मनो युक्तं नैवात्मा कर्मनिर्मितः ॥४५९॥

देह कर्मोंहीसे बना हुआ है, अतः प्रारब्ध भी उसीका समझना चाहिये, अनादि आत्माका प्रारब्ध मानना ठीक नहीं; क्योंकि आत्मा कर्मोंसे बना हुआ नहीं है ।

अजो नित्य इति ब्रूते श्रुतिरेषा त्वमोघवाक् ।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ॥४६०॥

'आत्मा अजन्मा, नित्य और अनादि है' ऐसा यथार्थ कथन करनेवाली श्रुति कहती है, फिर उस आत्मस्वरूपसे ही सदा स्थित रहनेवाले विद्वान्‌के प्रारब्धकर्म शेष रहनेकी कल्पना कैसे हो सकती है ?

प्रारब्धं सिध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः ।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः ॥४६१॥

प्रारब्ध तो तभीतक सिद्ध होता है जबतक देहमें आत्मभावना रहती है और देहात्मभाव मुमुक्षुके लिये इष्ट नहीं है; इसलिये प्रारब्धकी अवस्थाको भी छोड़ देना चाहिये ।

शरीरस्यापि प्रारब्धकल्पना भ्रान्तिरेव हि ।
अध्यस्तस्य कुतः सत्त्वमसत्त्वस्य कुतो जनिः ।
अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः ॥४६२॥

और वास्तवमें तो शरीरका भी प्रारब्ध मानना भ्रम ही है, क्योंकि वह तो स्वयं अध्यस्त (भ्रमसे कल्पित) है और अध्यस्त वस्तुकी सत्ता ही कहाँ होती है ? तथा जिसकी सत्ता ही न हो, उसका जन्म भी कहाँसे आया ? और जिसका जन्म ही न हो, उसका नाश भी कैसे हो सकता है । इस प्रकार जो सर्वथा सत्ताशून्य है उसका प्रारब्ध कैसे हो सकता है ?

ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि ।
तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान् ।
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः ॥४६३॥
न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम् ।
यतः श्रुतेरभिप्रायः परमार्थैकगोचरः ॥४६४॥

जिनको ऐसी शङ्का होती है कि यदि ज्ञानसे अज्ञानका मूलसहित नाश हो जाता है तो ज्ञानीका यह स्थूल देह कैसे रहता है, उन मूर्खोंको समझानेके लिये श्रुति ऊपरी दृष्टिसे प्रारब्धको उसका कारण बतला देती है । वह विद्वान्को देहादिका सत्यत्व समझानेके लिये ऐसा नहीं कहती; क्योंकि श्रुतिका अभिप्राय तो एकमात्र परमार्थवस्तुका वर्णन करनेमें ही है ।

नानात्व-निषेध

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६५॥

[श्रुति कहती है—] वास्तवमें सर्वत्र परिपूर्ण, अनादि, अनन्त, अप्रमेय और अविकारी एक अद्वितीय ब्रह्म ही है; उसमें और कोई नाना पदार्थ नहीं है ।

सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६६॥

जो घनीभूत सत्, चित् और आनन्द है; ऐसा एक नित्य, अक्रिय और अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य वस्तु है, उसमें कोई नाना पदार्थ नहीं है ।

प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६७॥

जो अन्तरात्मा, एकरस, परिपूर्ण, अनन्त और सर्वव्यापक है ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही है; उसमें नाना पदार्थ कोई नहीं है ।

अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६८॥

जो न त्याज्य है, न ग्राह्य है और न किसीमें स्थित होने योग्य है तथा जिसका कोई अन्य आधार भी नहीं है, ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है; उसमें नाना पदार्थ कोई नहीं है ।

निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४६९॥

जो गुण और कलासे रहित है, सूक्ष्म, निर्विकल्प और निर्मल है, ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है; उसमें नाना पदार्थ कुछ भी नहीं है।

अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम्।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४७०॥

जिसका रूप वर्णन नहीं किया जा सकता तथा जो मन और वाणीका भी विषय नहीं है, ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही है; उसमें नाना वस्तु कोई भी नहीं है।

सत्समृद्धं स्वतःसिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम्।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥४७१॥

जो सत्य, वैभवपूर्ण, स्वतःसिद्ध, शुद्ध, बोधस्वरूप और उपमारहित है ऐसा एक अद्वितीय ब्रह्म ही सत्य है; उसमें नाना पदार्थ कुछ भी नहीं है।

आत्मानुभवका उपदेश

निरस्तरागा निरपास्तभोगाः
शान्ताः सुदान्ता यतयो महान्तः।
विज्ञाय तत्त्वं परमेतदन्ते
प्राप्ताः परां निर्वृतिमात्मयोगात् ॥४७२॥

जिनका किसी भी वस्तुमें राग नहीं है और भोगका भी सर्वथा अन्त हो गया है तथा जिनका चित्त शान्त एवं इन्द्रियाँ संयत हैं वे महात्मा संन्यासीजन ही इस परम तत्त्वको जानकर अन्तमें इस अध्यात्मयोगके द्वारा परम शान्तिको प्राप्त हुए हैं।

भवानपीदं परतत्त्वमात्मनः
स्वरूपमानन्दघनं विचार्य ।
विधूय मोहं स्वमनःप्रकल्पितं
मुक्तः कृतार्थो भवतु प्रबुद्धः ॥४७३॥

अतः हे वत्स ! तुम भी आत्माके इस परम तत्त्व और आनन्दघनस्वरूपका विचार करते हुए अपने मन:कल्पित मोहको छोड़कर मुक्त हो जाओ और इस प्रकार अज्ञान-निद्रासे जगकर कृतार्थ हो जाओ।

समाधिना साधु विनिश्चलात्मना
पश्यात्मतत्त्वं स्फुटबोधचक्षुषा ।
निःसंशयं सम्यगवेक्षितश्चे-
च्छ्रुतः पदार्थो न पुनर्विकल्प्यते ॥४७४॥

समाधिके द्वारा भली प्रकार निश्चल हुए चित्त और विकसित ज्ञान-नेत्रोंसे इस आत्मतत्त्वको देखो; क्योंकि यदि सुना हुआ पदार्थ नि:सन्देह होकर भली प्रकार देख लिया जाता है तो उसके विषयमें फिर कोई संशय नहीं होता है ।

स्वस्याविद्याबन्धसम्बन्धमोक्षा-
त्सत्यज्ञानानन्दरूपात्मलब्धौ ।
शास्त्रं युक्तिर्देशिकोक्तिः प्रमाणं
चान्तःसिद्धा स्वानुभूतिः प्रमाणम् ॥४७५॥

अपने अज्ञानरूप बन्धनका संसर्ग छूट जानेसे जो सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माकी प्राप्ति होती है, उसमें शास्त्र, युक्ति, गुरुवाक्य और अन्त:करणसे सिद्ध होनेवाला अपना अनुभव प्रमाण है ।

बन्धो मोक्षश्च तृप्तिश्च चिन्तारोग्यक्षुधादयः ।
स्वेनैव वेद्या यज्ज्ञानं परेषामानुमानिकम् ॥४७६॥

बन्धन, मोक्ष, तृप्ति, चिन्ता, आरोग्य और भूख आदि तो अपने आप ही जाने जाते हैं, दूसरोंको उनका जो ज्ञान होता है वह तो केवल आनुमानिक ही है ।

तटस्थिता बोधयन्ति गुरवः श्रुतयो यथा ।
प्रज्ञयैव तरेद्विद्वानीश्वरानुगृहीतया ॥४७७॥

श्रुतिके समान गुरु भी ब्रह्मका केवल तटस्थरूपसे ही बोध कराते हैं, विद्वान्‌को चाहिये कि अपनी ही ईश्वरानुगृहीत* बुद्धिसे [उसका साक्षात् अनुभव करके] इस संसार-सागरके पार हो जाय ।

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम् ।
संसिद्धः ससुखं तिष्ठेन्निर्विकल्पात्मनात्मनि ॥४७८॥

अपने अनुभवसे अखण्ड आत्माको स्वयं जानकर सिद्ध हुआ पुरुष निर्विकल्प भावसे आनन्दपूर्वक सदा आत्मामें ही स्थित रहे ।

---

* ब्रह्मका साक्षात् निरूपण कोई भी नहीं कर सकता, क्योंकि वह शब्द शक्तिवृत्तिसे बाहर है—शब्द वहाँतक पहुँच ही नहीं सकता । उसका ज्ञान तो लक्षणावृत्तिसे ही हो सकता है । अतः ब्रह्मका साक्षात्कार करनेके लिये उसकी उपाधिरूप इस निखिल प्रपञ्चका बाध करना पड़ता है; क्योंकि इसीने उसके स्वरूपको आच्छादित किया हुआ है । किन्तु दृश्यका बाध उसमें मिथ्यात्व बुद्धि हुए बिना हो नहीं सकता और ऐसी बुद्धि शिष्यको ईश्वर-कृपाके प्रभावसे ही प्राप्त होती है । इसलिये बोध होनेके लिये शास्त्र-कृपा और गुरु-कृपाके समान भगवत्कृपा भी अत्यन्त आवश्यक है ।

वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा
ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च ।
अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो
ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ॥४७९॥

वेदान्तका सिद्धान्त तो यही कहता है कि जीव और सम्पूर्ण जगत् केवल ब्रह्म ही है और उस अद्वितीय ब्रह्ममें निरन्तर अखण्ड-रूपसे स्थित रहना ही मोक्ष है । ब्रह्म अद्वितीय है—इस विषयमें श्रुतियाँ प्रमाण हैं ।

बोधोपलब्धि

इति गुरुवचनाच्छ्रुतिप्रमाणा-
त्परमवगम्य सतत्त्वमात्मयुक्त्या ।
प्रशमितकरणः समाहितात्मा
क्वचिदचलाकृतिरात्मनिष्ठितोऽभूत् ॥४८०॥

इस प्रकार गुरुके श्रुति-प्रमाणयुक्त वचन और अपनी युक्तियों-द्वारा परमात्मतत्त्वको जानकर चित्त और इन्द्रियोंके शान्त हो जानेसे कोई एक शिष्य निश्चल वृत्तिसे आत्मस्वरूपमें स्थित हो गया ।

कञ्चित्कालं समाधाय परे ब्रह्मणि मानसम् ।
व्युत्थाय परमानन्दादिदं वचनमब्रवीत् ॥४८१॥

और कुछ देरतक परब्रह्ममें चित्तको समाहितकर फिर उस परमानन्दमयी स्थितिसे उठकर ये वचन बोला ।

बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्ति-
र्ब्रह्मात्मनोरेकतयाधिगत्या ।
इदं न जानेऽप्यनिदं न जाने
किं वा कियद्वा सुखमस्त्यपारम् ॥४८२॥

अहो ! ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान होनेपर मेरी बुद्धि तो एकदम नष्ट हो गयी, सारी प्रवृत्ति दूर हो गयी, अब मुझे न इदं (प्रत्यक्ष वस्तु) का ज्ञान है और न अनिदं (अप्रत्यक्ष) का और न मैं यही जानता हूँ कि वह अपार आनन्द कैसा और कितना है।

वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं न वा शक्यते
स्वानन्दामृतपूरपूरितपरब्रह्माम्बुधेर्वैभवम् ।
अम्भोराशिविशीर्णवार्षिकशिलाभावं भजन्मे मनो
यस्यांशांशलवे विलीनमधुनानन्दात्मना निर्वृतम् ॥४८३॥

जलराशि (समुद्र) में पड़कर गले हुए वर्षाकालिक ओलोंकी अवस्थाको प्राप्त हुआ मेरा मन जिस आनन्दामृतसमुद्रके एक अंशके भी अंशमें लीन होकर अब अति आनन्दरूपसे स्थित हो गया है, उस आत्मानन्दरूप अमृतप्रवाहसे परिपूर्ण परब्रह्मसमुद्रका वैभव वाणीसे नहीं कहा जा सकता और मनसे मनन नहीं किया जा सकता।

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम् ॥४८४॥

वह संसार कहाँ चला गया ? उसे कौन ले गया ? यह कहाँ लीन हो गया ? अहो ! बड़ा आश्चर्य है जिस संसारको मैं अभी देख रहा था वह कहीं दिखायी नहीं देता ।

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम् ।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णे ब्रह्ममहार्णवे ॥४८५॥

इस अखण्ड आनन्दामृतपूर्ण ब्रह्म-समुद्रमें कौन वस्तु त्याज्य है ? कौन ग्राह्य है ? कौन सामान्य है ? और कौन विलक्षण है ?

न किञ्चिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम् ।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षणः ॥४८६॥

अब मुझे यहाँ न कुछ दिखायी देता है, न सुनायी देता है और न मैं कुछ जानता ही हूँ । मैं तो अपने नित्यानन्दस्वरूप आत्मामें स्थित होकर अपनी पहली अवस्थासे सर्वथा विलक्षण हो गया हूँ ।

नमो नमस्ते गुरवे महात्मने
विमुक्तसङ्गाय सदुत्तमाय ।
नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे
भूम्ने सदापारदयाम्बुधाम्ने ॥४८७॥

यत्कटाक्षशशिसान्द्रचन्द्रिकापातधूतभवतापजश्रमः ।
प्राप्तवानहमखण्डवैभवानन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात् ४८८

जिनके कृपाकटाक्षरूप चन्द्रकी स्निग्ध चन्द्रिकाके संसर्गसे संसार-ताप-जन्य श्रमके दूर हो जानेसे मैंने क्षणभरमें अखण्ड ऐश्वर्य और आनन्दमय अक्षय आत्मपद प्राप्त किया है, उन संगरहित,

संतशिरोमणि, नित्य-अद्वितीय-आनन्दरसस्वरूप, अति महान् और नित्य-अपार-दयासागर महात्मा गुरुदेवको बारंबार नमस्कार है ।

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं तदनुग्रहात् ॥४८९॥

उन श्रीगुरुदेवकी कृपासे आज मैं धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ, संसारबन्धनसे रहित हूँ तथा नित्यानन्दस्वरूप और सर्वत्र परिपूर्ण हूँ ।

असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहमभङ्गुरः ।
प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहमतान्तोऽहं चिरन्तनः ॥४९०॥

मैं असंग हूँ, अशरीर हूँ, अलिङ्ग हूँ और अक्षय हूँ तथा अत्यन्त शान्त, अनन्त, अतान्त (निरीह) और पुरातन हूँ ।

अकर्ताहमभोक्ताहमविकारोऽहमक्रियः ।
शुद्धबोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः ॥४९१॥

मैं अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, अविकारी हूँ, अक्रिय हूँ, शुद्ध-बोधस्वरूप हूँ, एक हूँ और नित्य कल्याणस्वरूप हूँ ।

द्रष्टुः श्रोतुर्वक्तुः कर्तुर्भोक्तुर्विभिन्न एवाहम् ।
नित्यनिरन्तरनिष्क्रियनिःसीमासङ्गपूर्णबोधात्मा ॥४९२॥

द्रष्टा, श्रोता, वक्ता, कर्ता, भोक्ता—मैं इन सभीसे भिन्न हूँ, मैं तो नित्य, निरन्तर, निष्क्रिय, निःसीम, असंग और पूर्णबोध-स्वरूप हूँ ।

नाहमिदं नाहमदोऽप्युभयोरवभासकं परं शुद्धम् ।
बाह्याभ्यन्तरशून्यं पूर्णं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ॥४९३॥

मैं न यह हूँ, न वह हूँ, बल्कि इन दोनों (स्थूल-सूक्ष्म जगत्) का प्रकाशक, बाह्याभ्यन्तरशून्य, पूर्ण, अद्वितीय और शुद्ध परब्रह्म ही हूँ।

निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इतिकल्पनादूरम्।
नित्यानन्दैकरसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ॥४९४॥

जो उपमारहित अनादितत्त्व 'तू, मैं, यह, वह' आदिकी कल्पनासे अत्यन्त दूर है वह नित्यानन्दैकरसस्वरूप, सत्य और अद्वितीय ब्रह्म ही मैं हूँ।

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं
पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी
निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः ॥४९५॥

मैं नारायण हूँ, नरकासुरका विघातक हूँ, त्रिपुरदैत्यका नाश करनेवाला हूँ, परम पुरुष हूँ और ईश्वर हूँ। मैं अखण्डबोधस्वरूप हूँ, सबका साक्षी हूँ, स्वतन्त्र हूँ तथा अहंता और ममतासे रहित हूँ [यह सभी वर्णन शुद्ध आत्मतत्त्वका परब्रह्म परमात्मासे अभेद प्रतिपादन करनेके लिये है।]

सर्वेषु भूतेष्वहमेव संस्थितो
ज्ञानात्मनान्तर्बहिराश्रयः सन्।
भोक्ता च भोग्यं स्वयमेव सर्वं
यद्यत्पृथग्दृष्टमिदन्तया पुरा ॥४९६॥

ज्ञानस्वरूपसे सबका आश्रय होकर समस्त प्राणियोंके बाहर और भीतर मैं ही स्थित हूँ तथा पहले जो-जो पदार्थ इदंवृत्तिद्वारा

भिन्न-भिन्न देखे गये थे वह भोक्ता और भोग्य सब कुछ स्वयं मैं ही हूँ।

मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥४९७॥

मुझ अखण्ड आनन्द-समुद्रमें विश्वरूपी नाना तरङ्गें माया-रूपी वायुके वेगसे उठती और लीन होती रहती हैं।

स्थूलादिभावा मयि कल्पिता भ्रमा-
दारोपिता नु स्फुरणेन लोकैः।
काले यथा कल्पकवत्सराय-
नर्त्वादयो निष्कलनिर्विकल्पे ॥४९८॥

जैसे निष्कल और निर्विकल्प कालमें स्वरूपसे कोई कल्प, वर्ष, अयन (उत्तरायण-दक्षिणायन) और ऋतु आदिका विभाग नहीं है उसी प्रकार लोगोंने भ्रमवश केवल स्फुरणमात्रसे ही आरोपित करके मुझमें स्थूल-सूक्ष्म आदि भावोंकी कल्पना कर ली है।

आरोपितं नाश्रयदूषकं भवे-
त्कदापि मूढैर्मतिदोषदूषितैः।
नार्द्रीकरोत्यूषरभूमिभागं
मरीचिकावारिमहाप्रवाहः ॥४९९॥

बुद्धि-दोषसे दूषित अज्ञानियोंद्वारा आरोपित की हुई वस्तु अपने आश्रयको दूषित नहीं कर सकती; जैसे मृगतृष्णाका महान् जल-प्रवाह अपने आश्रय ऊषर भूमि-खण्डको [तनिक भी] गीला नहीं करता।

आकाशवल्लेपविदूरगोऽह-
मादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् ।
आहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽह-
मम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम् ॥५००॥

मैं आकाशके समान निर्लेप हूँ, सूर्यके समान अप्रकाश्य हूँ, पर्वतके समान नित्य निश्चल हूँ और समुद्रके समान अपार हूँ।

न मे देहेन सम्बन्धो मेघेनेव विहायसः ।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः ॥५०१॥

जैसे मेघसे आकाशका कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही मेरा भी शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है, तो फिर इस शरीरके धर्म जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि मुझमें कैसे हो सकते हैं?

उपाधिरायाति स एव गच्छति
स एव कर्माणि करोति भुङ्क्ते ।
स एव जीर्यन्म्रियते सदाहं
कुलाद्रिवन्निश्चल एव संस्थितः ॥५०२॥

उपाधि ही आती है, वही जाती है तथा वही कर्मोंको करती और उनके फल भोगती है तथा वृद्धावस्थाके प्राप्त होनेपर वही मरती है। मैं तो कुल पर्वतके समान नित्य निश्चल-भावसे ही रहता हूँ।

न मे प्रवृत्तिर्न च मे निवृत्तिः
सदैकरूपस्य निरंशकस्य ।
एकात्मको यो निविडो निरन्तरो
व्योमेव पूर्णः स कथं नु चेष्टते ॥५०३॥

मुझ सदा एकरस और निरवयवकी न किसी विषयमें प्रवृत्ति है और न किसीसे निवृत्ति। भला जो निरन्तर एकरूप घनीभूत और आकाशके समान पूर्ण है वह किस प्रकार चेष्टा कर सकता है।

पुण्यानि पापानि निरिन्द्रियस्य
निश्चेतसो निर्विकृतेर्निराकृतेः।
कुतो ममाखण्डसुखानुभूते-
र्ब्रूते ह्यनन्वागतमित्यपि श्रुतिः ॥५०४॥

इन्द्रिय, चित्त, विकार और आकृतिसे रहित मुझ अखण्ड आनन्दस्वरूपको पाप या पुण्य कैसे हो सकते हैं? और *'अनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन'* * (बृह० ४। ३। २२) यह श्रुति भी ऐसा ही बतलाती है।

छायया स्पृष्टमुष्णं वा शीतं वा सुष्ठु दुष्ठु वा।
न स्पृशत्येव यत्किञ्चित्पुरुषं तद्विलक्षणम् ॥५०५॥
न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम्।
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत् ॥५०६॥

जैसे उष्ण-शीत, अच्छी-बुरी—कैसी ही वस्तु छायासे छू जानेपर भी उससे सर्वथा पृथक् पुरुषका तनिक भी स्पर्श नहीं कर सकती तथा घरको प्रकाशित करनेवाले दीपकपर जैसे घरके [सुन्दरता, मलिनता आदि] किसी धर्मका कोई प्रभाव नहीं होता वैसे ही शरीर आदि दृश्य पदार्थोंके धर्म उनसे विलक्षण

* यह आत्मा पुण्य (शास्त्रविहित कर्म) और पाप (शास्त्रनिषिद्ध कर्म) से असम्बद्ध है।

उनके साक्षी आत्माको जो विकाररहित एवं उदासीन है, तनिक भी नहीं छू सकते ।

रवेर्यथा कर्मणि साक्षिभावो
वह्नेर्यथा वायसि दाहकत्वम् ।
रज्जोर्यथारोपितवस्तुसङ्ग-
स्तथैव कूटस्थचिदात्मनो मे ॥५०७॥

मनुष्योंके कर्मोंमें जैसे सूर्यका साक्षीभाव है, लोहेके जलानेमें जैसे अग्निकी दाहकता है और आरोपित सर्पादिसे जैसे रज्जुका सङ्ग है वैसे ही मुझ कूटस्थ चेतन आत्माका विषयोंमें साक्षीभाव है । अर्थात् जैसे उनकी प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं, क्रियमाण नहीं, वैसे ही आत्माका साक्षीभाव भी विषयोंकी अपेक्षासे स्वाभाविक है, वह उसकी क्रिया नहीं है ।

कर्तापि वा कारयितापि नाहं
भोक्तापि वा भोजयितापि नाहम् ।
द्रष्टापि वा दर्शयितापि नाहं
सोऽहं स्वयंज्योतिरनीदृगात्मा ॥५०८॥

मैं न करनेवाला हूँ, न करानेवाला हूँ; न भोगनेवाला हूँ, न भुगतानेवाला हूँ और न देखनेवाला हूँ, न दिखानेवाला हूँ । मैं तो सबसे विलक्षण स्वयंप्रकाश आत्मा ही हूँ ।

चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्य-
मौपाधिकं मूढधियो नयन्ति ।
स्वबिम्बभूतं रविवद्विनिष्क्रियं
कर्तास्मि भोक्तास्मि हतोऽस्मि हेति ॥५०९॥

जिस प्रकार [जलरूप] उपाधिके चञ्चल होनेपर मूढबुद्धि पुरुष औपाधिक प्रतिबिम्बकी चञ्चलताका बिम्बभूत सूर्यमें आरोप करते हैं उसी प्रकार वे सूर्यके समान निष्क्रिय आत्मामें [चित्तकी चञ्चलताका आरोप] 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, हाय मारा गया' ऐसा कहा करते हैं ।

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ॥५१०॥

घड़ेके धर्मोंसे जैसे आकाशका कोई सम्बन्ध नहीं होता वैसे ही यह जड देह जलमें अथवा स्थलमें कहीं भी लोटता रहे मैं इसके धर्मोंसे लिप्त नहीं हो सकता ।

कर्तृत्वभोक्तृत्वखलत्वमत्तता-
जडत्वबद्धत्वविमुक्ततादयः ।
बुद्धेर्विकल्पा न तु सन्ति वस्तुतः
स्वस्मिन्परे ब्रह्मणि केवलेऽद्वये ॥५११॥

कर्तापन, भोक्तापन, दुष्टता, उन्मत्तता, जडता, बन्धन और मोक्ष—ये सब बुद्धिकी ही कल्पनाएँ हैं; ये प्रकृति आदिसे अतीत केवल अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप स्वात्मामें वस्तुतः नहीं हैं ।

सन्तु विकाराः प्रकृतेर्दशधा शतधा सहस्रधा वापि ।
किं मेऽसङ्गचितेस्तैर्न घनः क्वचिदम्बरं स्पृशति ॥५१२॥

प्रकृतिमें दसों, सैकड़ों और हजारों विकार क्यों न हों उनसे मुझ असङ्ग चेतन आत्माका क्या सम्बन्ध ? मेघ कभी भी आकाशको नहीं छू सकता ।

अव्यक्तादिस्थूलपर्यन्तमेत-
द्विश्वं यत्राभासमात्रं प्रतीतम् ।
व्योमप्रख्यं सूक्ष्ममाद्यन्तहीनं
ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥५१३॥

अव्यक्तसे लेकर स्थूलभूतपर्यन्त यह समस्त विश्व जिसमें आभासमात्र प्रतीत होता है तथा जो आकाशके समान सूक्ष्म और आदि-अन्तसे रहित अद्वैत ब्रह्म है, वही मैं हूँ ।

सर्वाधारं सर्ववस्तुप्रकाशं
सर्वाकारं सर्वगं सर्वशून्यम् ।
नित्यं शुद्धं निश्चलं निर्विकल्पं
ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥५१४॥

जो सबका आधार, सब वस्तुओंका प्रकाशक, सर्वरूप, सर्वव्यापी, सबसे रहित, नित्य, शुद्ध, निश्चल और विकल्परहित अद्वैत ब्रह्म है, वही मैं हूँ ।

यत्प्रत्यस्ताशेषमायाविशेषं
प्रत्यग्रूपं प्रत्ययागम्यमानम् ।
सत्यज्ञानानन्तमानन्दरूपं
ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥५१५॥

जो समस्त मायिक भेदोंसे रहित, अन्तरात्मारूप और साक्षात् प्रतीतिका अविषय तथा अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वैत ब्रह्म है, वही मैं हूँ ।

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।
निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ॥

मैं क्रियारहित, विकाररहित, कलारहित और निराकार हूँ तथा निर्विकल्प, नित्य, निरालम्ब और अद्वितीय हूँ ।

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।
केवलाखण्डबोधोऽहमानन्दोऽहं निरन्तरः ॥५१७॥

मैं सबका आत्मा, सर्वरूप, सबसे परे और अद्वितीय हूँ; तथा केवल अखण्डज्ञानस्वरूप और निरन्तर आनन्दरूप हूँ ।

स्वाराज्यसाम्राज्यविभूतिरेषा
भवत्कृपाश्रीमहिमप्रसादात् ।
प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने
नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु ॥५१८॥

हे गुरो ! आपकी कृपा और महिमाके प्रसादसे मुझे यह स्वाराज्य-साम्राज्यकी विभूति प्राप्त हुई है । आप महात्माको मेरा बारंबार नमस्कार हो ।

महास्वप्ने मायाकृतजनिजरामृत्युगहने
भ्रमन्तं क्लिश्यन्तं बहुलतरतापैरनुदिनम् ।
अहङ्कारव्याघ्रव्यथितमिममत्यन्तकृपया
प्रबोध्य प्रस्वापात्परमवितवान्मामसि गुरो ॥५१९॥

मैं मायासे प्रतीत होनेवाले जन्म, जरा और मृत्युके कारण अत्यन्त भयानक महास्वप्नमें भटकता हुआ दिन-दिन नाना प्रकारके तापोंसे सन्तप्त हो रहा था, हे गुरो ! अहंकाररूपी व्याघ्रसे

अत्यन्त व्यथित मुझ दीनको निद्रासे जगाकर आपने मेरी बहुत बड़ी रक्षा की है ।

नमस्तस्मै सदेकस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ।
यदेतद्विश्वरूपेण राजते गुरुराज ते ॥५२०॥

हे गुरुराज ! आपके किसी उस महान् तेजको नमस्कार है, जो सत्स्वरूप और एक होकर भी विश्वरूपसे विराजमान है ।

उपदेशका उपसंहार

इति नतमवलोक्य शिष्यवर्यं
समधिगतात्मसुखं प्रबुद्धतत्त्वम् ।
प्रमुदितहृदयः स देशिकेन्द्रः
पुनरिदमाह वचः परं महात्मा ॥५२१॥

इस प्रकार आत्मानन्द और तत्त्वबोधको प्राप्त हुए उस शिष्यश्रेष्ठको प्रणाम करते देख महात्मा गुरुदेव अति प्रसन्नचित्तसे फिर इस प्रकार श्रेष्ठ वचन कहने लगे ।

ब्रह्मप्रत्ययसन्ततिर्जगदतो ब्रह्मैव सत्सर्वतः
पश्याध्यात्मदृशा प्रशान्तमनसा सर्वास्ववस्थास्वपि ।
रूपादन्यदवेक्षितुं किमभितश्चक्षुष्मतां विद्यते
तद्वद् ब्रह्मविदः सतः किमपरं बुद्धेर्विहारास्पदम् ।५२२।

हे वत्स ! अपनी आध्यात्मिक दृष्टिसे शान्तचित्त होकर सब अवस्थाओंमें ऐसा ही देख कि यह संसार ब्रह्म-प्रतीतिका ही प्रवाह है इसलिये यह सर्वथा सत्यस्वरूप ब्रह्म ही है । नेत्रयुक्त व्यक्तिको चारों ओर देखनेके लिये रूपके अतिरिक्त और क्या

वस्तु है ? उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीकी बुद्धिका विषय सत्यस्वरूप ब्रह्मसे अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

कस्तां परानन्दरसानुभूति-
मुत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान् ।
चन्द्रे महाह्लादिनि दीप्यमाने
चित्रेन्दुमालोकयितुं क इच्छेत् ॥५२३॥

उस परमानन्दरसके अनुभवको छोड़कर अन्य थोथे विषयोंमें कौन बुद्धिमान् रमण करेगा ? अति आनन्ददायक पूर्णचन्द्रके प्रकाशित रहते हुए चित्रलिखित चन्द्रमाको देखनेकी इच्छा कौन करेगा ?

असत्पदार्थानुभवे न किञ्चि-
न्न ह्यस्ति तृप्तिर्न च दुःखहानिः ।
तदद्वयानन्दरसानुभूत्या
तृप्तः सुखं तिष्ठ सदात्मनिष्ठया ॥५२४॥

असत् पदार्थोंके अनुभवसे न तो कुछ तृप्ति ही होती है और न दुःखका नाश ही; अतः उस अद्वयानन्दरसके अनुभवसे तृप्त होकर सत्य आत्मनिष्ठभावसे सुखपूर्वक स्थित हो ।

स्वयमेव सर्वथा पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम् ।
स्वानन्दमनुभुञ्जानः कालं नय महामते ॥५२५॥

हे महाबुद्धे ! सब ओर केवल अपनेको ही देखता हुआ, अपनेको अद्वितीय मानता हुआ और आत्मानन्दका अनुभव करता हुआ कालक्षेप कर ।

अखण्डबोधात्मनि निर्विकल्पे
विकल्पनं व्योम्नि पुरःप्रकल्पनम् ।
तदद्वयानन्दमयात्मना सदा
शान्तिं परामेत्य भजस्व मौनम् ॥५२६॥

अखण्डबोधस्वरूप निर्विकल्प आत्मामें किसी विकल्पका होना आकाशमें नगरकी कल्पनाके समान है । इसलिये अद्वितीय आनन्दमय आत्मस्वरूपसे स्थित होकर परमशान्ति लाभ कर मौन धारण करो ।

तूष्णीमवस्था परमोपशान्ति-
र्बुद्धेरसत्कल्पविकल्पहेतोः ।
ब्रह्मात्मना ब्रह्मविदो महात्मनो
यत्राद्वयानन्दसुखं निरन्तरम् ॥५२७॥

महात्मा ब्रह्मवेत्ताके मिथ्या विकल्पोंकी हेतुभूता बुद्धिकी जो ब्रह्मभावसे मौनावस्था है वही परम उपशम है, जिसमें कि निरन्तर अद्वयानन्दरसका अनुभव होता है ।

नास्ति निर्वासनान्मौनात्परं सुखकृदुत्तमम् ।
विज्ञातात्मस्वरूपस्य स्वानन्दरसपायिनः ॥५२८॥

जिसने आत्मस्वरूपको जान लिया है उस स्वानन्दरसका पान करनेवाले पुरुषके लिये वासनारहित मौनसे बढ़कर उत्तम सुखदायक और कुछ भी नहीं है ।

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वान्यथापि वा ।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः ॥५२९॥

विद्वान् मुनिको उचित है कि चलते-फिरते, बैठते-उठते, सोते-जागते अथवा किसी और अवस्थामें रहते निरन्तर आत्मामें रमण करता हुआ इच्छानुकूल रहे ।

न देशकालासनदिग्यमादि-
लक्ष्याद्यपेक्षा प्रतिबद्धवृत्तेः ।
संसिद्धतत्त्वस्य महात्मनोऽस्ति
स्ववेदने का नियमाद्यपेक्षा ॥५३०॥

जिसकी चित्तवृत्ति निरन्तर आत्मस्वरूपमें लगी रहती है तथा जिसे आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो गयी है उस महापुरुषको देश, काल, आसन, दिशा, यम, नियम तथा लक्ष्य आदिकी कोई आवश्यकता नहीं है । अपने-आपको जान लेनेपर भला नियम आदि-की क्या अपेक्षा है ?

घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः को न्वपेक्ष्यते ।
विना प्रमाणसुष्ठुत्वं यस्मिन्सति पदार्थधीः ॥५३१॥

'यह घड़ा है' ऐसा जाननेके लिये, जिससे वस्तुका ज्ञान होता है, उस प्रमाण-सौष्ठवके अतिरिक्त भला और किस नियम-की आवश्यकता है ?

अयमात्मा नित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते ।
न देशं नापि वा कालं न शुद्धिं वाप्यपेक्षते ॥५३२॥

आत्मा नित्यसिद्ध है, प्रमाण होते ही वह स्वयं भासने लगता है । [अपनी प्रतीतिके लिये] वह देश, काल अथवा शुद्धि आदि किसीकी भी अपेक्षा नहीं रखता ।

देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम् ।
तद्वद्ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम् ॥५३३॥

जिस प्रकार 'मैं देवदत्त हूँ' इस ज्ञानमें किसी नियमकी अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ताको 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान स्वतः ही होता है ।

भानुनेव जगत्सर्वं भासते यस्य तेजसा ।
अनात्मकमसत्तुच्छं किं नु तस्यावभासकम् ॥५३४॥

सूर्यसे जैसे जगत् प्रकाशित होता है वैसे ही जिसके प्रकाशसे समस्त असत् और तुच्छ अनात्मपदार्थ भासते हैं उसको भासित करनेवाला और कौन हो सकता है ?

वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि ।
येनार्थवन्ति तं किं नु विज्ञातारं प्रकाशयेत् ॥५३५॥

वेद, शास्त्र, पुराण और समस्त भूतमात्र जिससे अर्थवान् हो रहे हैं उस सर्वसाक्षी परमात्माको और कौन प्रकाशित करेगा ?

एष स्वयंज्योतिरनन्तशक्ति-
रात्माप्रमेयः सकलानुभूतिः ।
यमेव विज्ञाय विमुक्तबन्धो
जयत्ययं ब्रह्मविदुत्तमोत्तमः ॥५३६॥

यह [सर्वसाक्षी] आत्मा स्वयंप्रकाश, अनन्तशक्ति, अप्रमेय और सर्वानुभवस्वरूप है, इसको ही जान लेनेपर वह ब्रह्मवेत्ताओंमें सर्वश्रेष्ठ महात्मा संसार-बन्धनसे मुक्त होकर धन्य हो जाता है ।

न खिद्यते नो विषयैः प्रमोदते
न सज्जते नापि विरज्यते च ।
स्वस्मिन्सदा क्रीडति नन्दति स्वयं
निरन्तरानन्दरसेन तृप्तः ॥५३७॥

विषयोंके प्राप्त होनेपर वह न दुखी होता है, न आनन्दित होता है, न उनमें आसक्त होता है और न उनसे विरक्त होता है। वह तो निरन्तर आत्मानन्दरससे तृप्त होकर स्वयं अपने-आपमें ही क्रीडा करता और आनन्दित होता है।

क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि ।
तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी ॥५३८॥

जिस प्रकार खिलौना मिलनेपर बालक अपनी भूख और शारीरिक व्यथाको भी भूलकर उससे खेलनेमें लगा रहता है उसी प्रकार अहंकार और ममतासे शून्य होकर विद्वान् अपने आत्मामें आनन्दपूर्वक रमण करता रहता है।

चिन्ताशून्यमदैन्यभैक्षमशनं पानं सरिद्वारिषु
स्वातन्त्र्येण निरङ्कुशा स्थितिरभीर्निद्रा श्मशाने वने ।
वस्त्रं क्षालनशोषणादिरहितं दिग्वास्तु शय्या मही
सञ्चारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीडा परे ब्रह्मणि ॥५३९॥

ब्रह्मवेत्ता विद्वान्का चिन्ता और दीनतारहित भिक्षान्न ही भोजन तथा नदियोंका जल ही पान होता है। उनकी स्थिति स्वतन्त्रतापूर्वक और निरङ्कुश (मनमानी) होती है। उन्हें किसी प्रकारका भय नहीं होता, वे वन अथवा श्मशानमें सुखकी नींद

सोते हैं । धोने-सुखाने आदिकी अपेक्षासे रहित दिशा [अथवा वल्कलादि] ही उनके वस्त्र हैं, पृथिवी ही बिछौना है, उनका आना-जाना वेदान्त-वीथियोंमें ही हुआ करता है और परब्रह्ममें ही उनकी क्रीडा होती है ।

विमानमालम्ब्य शरीरमेतद्
भुनक्त्यशेषान्विषयानुपस्थितान् ।
परेच्छया बालवदात्मवेत्ता
योऽव्यक्तलिङ्गोऽननुषक्तबाह्यः ॥५४०॥

वह आत्मज्ञानी महापुरुष इस शरीररूप विमानमें बैठकर अर्थात् अपने सर्वाभिमानशून्य शरीरका आश्रय लेकर दूसरोंके द्वारा उपस्थित किये समस्त विषयोंको बालकके समान भोगता है; किन्तु वास्तवमें वह प्रकट-चिह्नरहित और बाह्य पदार्थोंमें आसक्ति-रहित होता है ।

दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा
त्वगम्बरो वापि चिदम्बरस्थः ।
उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा
पिशाचवद्वापि चरत्यवन्याम् ॥५४१॥

चैतन्यरूप वस्त्रसे युक्त वह महाभाग्यवान् पुरुष वस्त्रहीन, वस्त्रयुक्त अथवा मृगचर्मादि धारण करनेवाला होकर उन्मत्तके समान, बालकके समान अथवा पिशाचादिके समान स्वेच्छानुकूल भूमण्डलमें विचरता रहता है ।

कामान्नी कामरूपी संश्चरत्येकचरो मुनिः ।
स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः ॥५४२॥

स्वयं सर्वात्मभावसे स्थित, सदा अपने आत्मामें ही सन्तुष्ट और अकेला विचरनेवाला वह मुनि अपने इच्छानुसार (जब इच्छा हो तब) अन्न ग्रहण करता है और मनमाना रूप धारण कर विचरता रहता है ।

क्वचिन्मूढो विद्वान्क्वचिदपि महाराजविभवः
क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः ।
क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित-
श्चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः ॥५४३॥

ब्रह्मवेत्ता महापुरुष कहीं मूढ, कहीं विद्वान् और कहीं राजा-महाराजाओंके-से ठाट-बाटसे युक्त दिखायी देता है । वह कहीं भ्रान्त, कहीं शान्त और कहीं अजगरके समान निश्चल भावसे पड़ा दीख पड़ता है । इस प्रकार निरन्तर परमानन्दमें मग्न हुआ विद्वान् कहीं सम्मानित, कहीं अपमानित और कहीं अज्ञात रहकर अलक्षित गतिसे विचरता है ।

निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः ।
नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः ॥५४४॥

वह निर्धन होनेपर भी सदा सन्तुष्ट, असहाय होनेपर भी महाबलवान्, भोजन न करनेपर भी नित्यतृप्त और विषमभावसे बर्तता हुआ भी समदर्शी होता है ।

अपि कुर्वन्नकुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि ।
शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः ॥५४५॥

वह महात्मा सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता है, नाना प्रकारके फल भोगता हुआ भी अभोक्ता है, शरीरधारी होनेपर भी अशरीरी है और परिच्छिन्न होनेपर भी सर्वव्यापी है ।

अशरीरं सदा सन्तमिमं ब्रह्मविदं क्वचित् ।
प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे ॥५४६॥

सदा अशरीर-भावमें स्थित रहनेसे इस ब्रह्मवेत्ताको प्रिय अथवा अप्रिय तथा शुभ अथवा अशुभ कभी छू नहीं सकते ।

स्थूलादिसम्बन्धवतोऽभिमानिनः
सुखं च दुःखं च शुभाशुभे च ।
विध्वस्तबन्धस्य सदात्मनो मुनेः
कुतः शुभं वाप्यशुभं फलं वा ॥५४७॥

जिस देहाभिमानीका स्थूल-सूक्ष्म आदि देहोंसे सम्बन्ध होता है, उसीको सुख अथवा दुःख तथा शुभ अथवा अशुभकी प्राप्ति होती है; जिसका देहादि बन्धन टूट गया है, उस सत्स्वरूप मुनिको शुभ अथवा अशुभ फलकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः ।
ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम् ॥५४८॥
तद्वद्देहादिबन्धेभ्यो विमुक्तं ब्रह्मवित्तमम् ।
पश्यन्ति देहिवन्मूढाः शरीराभासदर्शनात् ॥५४९॥

वास्तविक बातको न जाननेके कारण जैसे राहुसे ग्रस्त न होनेपर भी ग्रस्त-सा प्रतीत होनेके कारण लोग भ्रमवश सूर्यको

राहु-ग्रस्त कहते हैं; वैसे ही देहादि-बन्धनसे छूटे हुए ब्रह्मवेत्ताका आभासमात्र शरीर देखकर अज्ञानीजन उसे देहयुक्त-सा मानते हैं।

अहिनिर्ल्वयनीवायं मुक्तदेहस्तु तिष्ठति।
इतस्ततश्चाल्यमानो यत्किञ्चित्प्राणवायुना ॥५५०॥

यह मुक्त पुरुषका शरीर तो साँपकी काँचुलीके समान प्राण-वायुद्वारा कुछ इधर-उधर चलायमान होता हुआ पड़ा रहता है। [उसमें कर्तृत्वाभिमानका अत्यन्ताभाव होनेके कारण वास्तवमें क्रिया नहीं होती]।

स्रोतसा नीयते दारु यथा निम्नोन्नतस्थलम्।
दैवेन नीयते देहो यथाकालोपभुक्तिषु ॥५५१॥

जैसे जलके प्रवाहसे लकड़ी ऊँचे-नीचे स्थानोंमें बहा ले जायी जाती है, उसी प्रकार दैवके द्वारा ही उसका शरीर समयानुकूल भोगोंको प्राप्त करता है।

प्रारब्धकर्मपरिकल्पितवासनाभिः
संसारिवच्चरति भुक्तिषु मुक्तदेहः।
सिद्धः स्वयं वसति साक्षिवदत्र तूष्णीं
चक्रस्य मूलमिव कल्पविकल्पशून्यः॥५५२॥

मुक्त पुरुषका शरीर प्रारब्धकर्मसे कल्पित वासनाओंद्वारा संसारी पुरुषके समान नाना भोगोंको भोगता है। सिद्ध पुरुष तो स्वयं कुलाल-चक्रके मूलकी भाँति संकल्प-विकल्पसे रहित होकर साक्षी-भावसे मौन होकर रहता है।

नैवेन्द्रियाणि विषयेषु नियुङ्क्त एष
नैवोपयुङ्क्ष उपदर्शनलक्षणस्थः।

नैव क्रियाफलमपीषदवेक्षते स
स्वानन्दसान्द्ररसपानसुमत्तचित्तः ॥५५३॥

ब्रह्मवेत्ता पुरुष अत्यन्त सघन आत्मानन्दरसके पानसे मतवाला होकर साक्षीरूपसे स्थित हुआ इन्द्रियोंको न तो विषयोंमें लगाता है और न उन्हें विषयोंसे हटाता है। वह अपने कर्मोंके फलकी ओर तो देखता भी नहीं है।

लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना।
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥५५४॥

जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों दृष्टियोंको त्यागकर केवल एक आत्मस्वरूपसे स्थित रहता है वह ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महापुरुष साक्षात् शिव ही है। [अर्थात् अन्य वस्तुके अभावके कारण जिसका कोई लक्ष्य (प्राप्तव्य) नहीं होता और जड अथवा सोये हुए पुरुषके समान जो ज्ञानशून्य भी नहीं होता वह पुरुष ही श्रेष्ठतम आत्मनिष्ठ है।]

जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः।
उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति निर्द्वयम् ॥५५५॥

ऐसा ब्रह्मज्ञानी जीता हुआ भी सदा मुक्त और कृतार्थ ही है, शरीररूप उपाधिके नष्ट होनेपर वह ब्रह्मभावमें स्थित हुआ ही अद्वितीय ब्रह्ममें लीन हो जाता है।

शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान्।
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः ॥५५६॥

नट जैसे विचित्र वेष-विन्यास धारण किये रहनेपर अथवा उसके अभावमें भी पुरुष ही है, वैसे ही ब्रह्मवेत्ता उपाधियुक्त

हो अथवा उपाधिमुक्त, सदा ब्रह्म ही है; और कुछ नहीं ।

यत्र क्वापि विशीर्णं सत्पर्णमिव तरोर्वपुःपतनात् ।
ब्रह्मीभूतस्य यतेः प्रागेव हि तच्चिदग्निना दग्धम् ॥५५७॥

जहाँ-तहाँ गिरे हुए वृक्षके सूखे पत्तोंके समान ब्रह्मीभूत यतिका शरीर कहीं भी गिरे वह तो पहले ही चैतन्याग्निसे दग्ध हुआ रहता है ।

सदात्मनि ब्रह्मणि तिष्ठतो मुनेः
पूर्णाद्वयानन्दमयात्मना सदा ।
न देशकालाद्युचितप्रतीक्षा
त्वङ्मांसविट्पिण्डविसर्जनाय ॥५५८॥

सत्स्वरूप ब्रह्ममें सदैव परिपूर्ण अद्वितीय आनन्दस्वरूपसे स्थित रहनेवाले मुनिको इस त्वचा, मांस और मल-मूत्रके पिण्डको त्यागनेके लिये किसी योग्य देशकाल आदिकी अपेक्षा नहीं होती ।

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः ।
अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥५५९॥

क्योंकि मोक्ष हृदयकी अविद्यारूप ग्रन्थिके नाशको ही कहते हैं । इसलिये देह अथवा दण्ड-कमण्डलुके त्यागका नाम मोक्ष नहीं है ।

कुल्यायामथ नद्यां वा शिवक्षेत्रेऽपि चत्वरे ।
पर्णं पतति चेत्तेन तरोः किं नु शुभाशुभम् ॥५६०॥

वृक्षका सूखकर झड़ा हुआ पत्ता नालीमें, नदीमें, शिवालयमें अथवा किसी चबूतरेपर कहीं भी गिरे, उससे वृक्षका क्या हानि-लाभ हो सकता है ?

पत्रस्य पुष्पस्य फलस्य नाशवद्
देहेन्द्रियप्राणधियां विनाशः ।
नैवात्मनः स्वस्य सदात्मकस्या-
नन्दाकृतेर्वृक्षवदस्ति चैषः ॥५६१॥

वृक्षके पत्ते, फूल और फलोंके समान नाश तो जीवके देह, इन्द्रिय, प्राण और बुद्धि आदिका ही होता है, सदानन्दस्वरूप स्वयं आत्माका नाश कभी नहीं होता, वह तो वृक्षके समान नित्य निश्चल है ।

प्रज्ञानघन इत्यात्मलक्षणं सत्यसूचकम् ।
अनूद्यौपाधिकस्यैव कथयन्ति विनाशनम् ॥५६२॥

'प्रज्ञानघन' यह आत्माका लक्षण उसकी सत्यताका सूचक है—विज्ञजन ऐसा अनुवाद (वर्णन) करके उपाधि-कल्पित वस्तुका ही विनाश बतलाते हैं ।

अविनाशी वा अरेऽयमात्मेति श्रुतिरात्मनः ।
प्रब्रवीत्यविनाशित्वं विनश्यत्सु विकारिषु ॥५६३॥

'अरे, यह आत्मा अविनाशी है' यह श्रुति* भी विकारी देह आदि-का नाश होनेपर आत्माके अविनाशित्वका ही प्रतिपादन करती है ।

पाषाणवृक्षतृणधान्यकटाम्बराद्या
दग्धा भवन्ति हि मृदेव यथा तथैव ।
देहेन्द्रियासुमनआदि समस्तदृश्यं
ज्ञानाग्निदग्धमुपयाति परात्मभावम् ॥५६४॥

* 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा' (बृह० ४ । ५ । १४)

जिस प्रकार पत्थर, वृक्ष, तृण, अन्न, भूसा और वस्त्र आदि जलनेपर मिट्टी ही हो जाते हैं उसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण और मन आदि सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ ज्ञानाग्निसे दग्ध हो जानेपर परमात्मस्वरूप ही हो जाते हैं।

विलक्षणं यथा ध्वान्तं लीयते भानुतेजसि ।
तथैव सकलं दृश्यं ब्रह्मणि प्रविलीयते ॥५६५॥

जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर उससे विपरीत स्वभाववाला अन्धकार उसीमें लीन हो जाता है वैसे ही सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च ज्ञानोदय होनेपर ब्रह्ममें ही लीन हो जाता है।

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्फुटम् ।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ॥५६६॥

घड़ेके नष्ट होनेपर जैसे घटाकाश महाकाश ही हो जाता है वैसे ही उपाधिका लय होनेपर ब्रह्मवेत्ता स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है।

क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले ।
संयुक्तमेकतां याति तथात्मन्यात्मविन्मुनिः ॥५६७॥

जैसे दूधमें मिलकर दूध, तैलमें मिलकर तैल और जलमें मिलकर जल एक ही हो जाते हैं वैसे ही आत्मज्ञानी मुनि आत्मामें लीन होनेपर आत्मस्वरूप ही हो जाता है।

एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम् ।
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्तते पुनः ॥५६८॥

अखण्ड सत्तामात्रसे स्थित होना ही विदेह-कैवल्य है। इस प्रकार ब्रह्म-भावको प्राप्त होकर यह यति फिर संसार-चक्रमें नहीं पड़ता।

सदात्मैकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः ।
अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद् ब्रह्मणः कुत उद्भवः ॥५६९॥

ब्रह्म और आत्माके एकत्व-ज्ञानरूप अग्निसे अविद्याजन्य शरीरादि उपाधिके दग्ध हो जानेपर तो यह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप ही हो जाता है और ब्रह्मका फिर जन्म कैसा ?

मायाक्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः ।
यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ ॥५७०॥

बन्धन और मोक्ष मायासे ही हुए हैं; वे वस्तुतः आत्मामें नहीं हैं; जैसे क्रियाहीन रज्जुमें सर्प-प्रतीतिका होना न होना भ्रममात्र है, वास्तवमें नहीं ।

आवृतेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ।
नावृतिर्ब्रह्मणः काचिदन्याभावादनावृतम् ।
यद्यस्त्यद्वैतहानिः स्याद् द्वैतं नो सहते श्रुतिः ॥५७१॥

अज्ञानकी आवरणशक्तिके रहने और न रहनेसे ही क्रमशः बन्ध और मोक्ष कहे जाते हैं और ब्रह्मका कोई आवरण हो नहीं सकता, क्योंकि उससे अतिरिक्त और कोई वस्तु है नहीं; अतः वह अनावृत है । यदि ब्रह्मका भी आवरण माना जाय तो अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता और द्वैत श्रुतिको मान्य नहीं है ।

बन्धं च मोक्षं च मृषैव मूढा
बुद्धेर्गुणं वस्तुनि कल्पयन्ति ।
दृगावृतिं मेघकृतां यथा रवौ
यतोऽद्वयासङ्गचिदेकमक्षरम् ॥५७२॥

बन्ध और मोक्ष दोनों बुद्धिके गुण हैं । जैसे मेघके द्वारा दृष्टिके ढँक जानेपर सूर्यको ढँका हुआ कहा जाता है उसी प्रकार मूढ़ पुरुष उनकी कल्पना आत्मतत्त्वमें व्यर्थ ही करते हैं; क्योंकि ब्रह्म तो सदैव अद्वितीय, असङ्ग, चैतन्यस्वरूप, एक और अविनाशी है ।

अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ।
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः ॥५७३॥

पदार्थका होना और न होना—ऐसा जो ज्ञान है वह बुद्धिका ही गुण है; नित्य वस्तु आत्माका नहीं ।

अतस्तौ मायया क्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि ।
निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने ।
अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत्कल्पना कुतः ॥५७४॥

इसलिये आत्मामें ये बन्ध और मोक्ष दोनों मायासे कल्पित हैं, वस्तुतः नहीं हैं; क्योंकि आकाशके समान निरवयव, निष्क्रिय, शान्त, निर्मल, निरञ्जन और अद्वितीय परमतत्त्वमें कल्पना कैसे हो सकती है ?

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥५७५॥

अतः परमार्थ (वास्तविक) बात तो यही है कि न किसीका नाश है, न उत्पत्ति है, न बन्धन है और न कोई साधक है तथा न मुमुक्षु (मुक्त होनेकी इच्छावाला) है, न मुक्त है ।

सकलनिगमचूडास्वान्तसिद्धान्तरूपं
परमिदमतिगुह्यं दर्शितं ते मयाद्य ।

अपगतकलिदोषं कामनिर्मुक्तबुद्धिं
स्वसुतवदसकृत्त्वां भावयित्वा मुमुक्षुम् ॥५७६॥

हे वत्स ! कलिके दोषोंसे रहित, कामनाशून्य तुझ मुमुक्षुको अपने पुत्रके समान समझकर मैंने बारंबार सकल शास्त्रोंका सार-शिरोमणि यह अति गुह्य परम सिद्धान्त तेरे सामने प्रकट किया है।

शिष्यकी विदा

इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं प्रश्रयेण कृतानतिः।
स तेन समनुज्ञातो ययौ निर्मुक्तबन्धनः ॥५७७॥

गुरुदेवके ऐसे वचन सुन शिष्यने अति नम्रतासे उन्हें प्रणाम किया और संसार-बन्धनसे मुक्त हो उनकी आज्ञा पाकर चला गया।

गुरुरेवं सदानन्दसिन्धौ निर्मग्नमानसः।
पावयन्वसुधां सर्वां विचचार निरन्तरम् ॥५७८॥

और गुरुजी भी सच्चिदानन्दसमुद्रमें मग्नमन हुए सम्पूर्ण पृथिवीको पवित्र करते निरन्तर विचरने लगे।

अनुबन्ध-चतुष्टय

इत्याचार्यस्य शिष्यस्य संवादेनात्मलक्षणम्।
निरूपितं मुमुक्षूणां सुखबोधोपपत्तये ॥५७९॥

इस प्रकार गुरु और शिष्यके संवादरूपसे मुमुक्षुओंको सुगमतासे बोध होनेके लिये यह आत्मज्ञानका निरूपण किया गया है।*

---

* इस श्लोकमें श्रीशंकराचार्यजीने ग्रन्थके अनुबन्ध-चतुष्टयका वर्णन किया है। इस ग्रन्थका अधिकारी मुमुक्षु पुरुष है, विषय आत्मज्ञान है, सम्बन्ध निरूप्य-निरूपक है और प्रयोजन 'मुमुक्षुओंको सुगमतासे आत्मज्ञानकी सिद्धि' है।

हितमिममुपदेशमाद्रियन्तां
विहितनिरस्तसमस्तचित्तदोषाः ।
भवसुखविरताः प्रशान्तचित्ताः
श्रुतिरसिका यतयो मुमुक्षवो ये ॥५८०॥

वेदान्तविहित श्रवणादिके द्वारा जिनके चित्तके समस्त दोष निकल गये हैं और जो संसारसुखसे विरक्त, शान्तचित्त, श्रुतिरहस्यके रसिक और मोक्षकामी हैं वे यतिजन इस हितकारी उपदेशका आदर करें ।

ग्रन्थ-प्रशंसा

संसाराध्वनि तापभानुकिरणप्रोद्भूतदाहव्यथा-
खिन्नानां जलकाङ्क्षया मरुभुवि श्रान्त्या परिभ्राम्यताम् ।
अत्यासन्नसुधाम्बुधिं सुखकरं ब्रह्माद्वयं दर्शय-
न्त्येषा शङ्करभारती विजयते निर्वाणसन्दायिनी ।५८१।

संसार-मार्गमें नाना प्रकारके क्लेशरूपी सूर्यकी किरणोंसे उत्पन्न हुए दाहकी व्यथासे पीड़ित होकर मरुस्थलमें जलकी इच्छासे भटकते हुए थके-माँदे पुरुषोंको अति निकटमें ही अद्वितीय ब्रह्मरूप अत्यन्त आनन्ददायक अमृतका समुद्र दिखानेवाली यह श्रीशंकराचार्यजीकी निर्वाणदायिनी वाणी निरन्तर जयको प्राप्त हो रही है ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-
शिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्कृतो विवेकचूडामणिः समाप्तः ।

संस्कृतकी कुछ मूल तथा सानुवाद पुस्तकें



ब्रह्मवेत्ता विद्वान्‌का भोजन चिन्ता और दीनतारहित भिक्षान्न ही होता है, नदियोंका जल ही पान होता है, स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दतापूर्वक उनकी स्थिति होती है, वन अथवा श्मशानमें निर्भय होकर सुखकी नींद सोना होता है, धोने-सुखानेकी अपेक्षासे रहित दिशा ही उनका वस्त्र है और पृथिवी ही उनका बिछौना है। वेदान्तवीथियोंमें ही उनका आना-जाना हुआ करता है और परब्रह्ममें ही उनकी क्रीडा हुआ करती है।

